वेदान्त का रहस्य समझने के लिए—

एक बार पढ़िये

वेदानुवचन

लेखक—आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंहजी वेदी

स्वयं स्वामी राम ने इन पुस्तकों की भूरि भूरि प्रशंसा की है, क्योंकि उन्हें स्वयं इनके अवलोकन से बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ था। आपकी सारी पुस्तकें पहले उर्दू भाषा में लिखी गयी थीं। लीग ने बड़े श्रम और व्यय से इन्हें हिन्दी में प्रकाशित किया है। यह पुस्तक तीन खण्डों में विभक्त है— १ कर्मकाण्ड, २ ज्ञानकाण्ड और ३ बंध और मोक्ष।

वेद और वेदान्त का मर्म समझने के लिए इससे बढ़िया पुस्तक मिलना कठिन है।

पृष्ठ संख्या लगभग ७००

साधारण संस्करण २।) विशेष संस्करण ३)

आत्मसाक्षात्कार की कसौटी

(सिराज्ल कुराकिता का हिन्दी अनुवाद)

इसमें आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह ने छान्दोग्योपनिषद् के छठे प्रपाठक की व्याख्या ऐसे सरल, सुन्दर और यथार्थ रूप में की है, जो जिज्ञासु और मुमुक्षु के लिये बहुत उपयोगी है। [illegible] की व्याख्या का ढंग अनूठा है।

पृष्ठ-संख्या १४९

साधारण सं० ।) विशेष सं० ॥)

भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्य

'रिसाला मजायबुल इल्म' का हिन्दी अनुवाद

इसमें आत्मदर्शी बाबा नगीना सिंह बेदी के ६ उपदेश संगृहीत किये गये हैं। बेदीजी ने "प्रज्ञानं ब्रह्म" का निरूपण अति सुगम ढंग से किया है।

पृष्ठ १६०

साधारण सं० ॥) विशेष सं० ।॥)

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ।

ॐ

महालीन् श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी जी महाराज की पुण्य-स्मृति में,

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित—

व्यावहारिक वेदान्त

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डालने वाला मासिक पत्र

वर्ष २ | जनवरी १९४१ | अङ्क १

प्रकाशक

महात्मा शान्तिप्रकाश

सभापति, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

मुद्रक

श्री माधव विष्णु पराड़कर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

विद्यार्थियों और पुस्तकालयों से २) राजा महाराजाओं से २५)

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

नव वर्ष की बधाई !

नये वर्ष के लिए बधाई! चारों ओर घोर संग्राम—विकराल युद्ध—योरप में हिंसात्मक महायुद्ध और भारतवर्ष में अहिंसात्मक सत्याग्रह! फिर भी नये वर्ष के लिए बधाई! वेदान्त—व्यावहारिक वेदान्त की ओर से सब को बधाई! हृदय से—सच्चे हृदय से सबको प्यार करो और अपनी ओर लाने का प्रयत्न करो; यदि कोई तुम्हारी बात न माने तो उससे असहयोग करो, हरगिज अन्यायमूलक आज्ञा मत मानो। वेदान्त की एक ही आज्ञा है—सब में ईश्वर के, स्वयं अपने दर्शन करो—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। अपने क्षुद्र अहम् का त्याग करो और सदैव प्रसन्न रहो। यदि कोई वस्तु तुम्हारे इस जन्मसिद्ध अधिकार—नित्यानन्द में बाधा डालती है तो उसका नाश कर दो, कुचल डालो। तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य अपने प्रति है, और वह है सदा नित्यानन्द में मग्न रहना। वहाँ न स्वार्थ है, न घृणा। व्यावहारिक वेदान्त कहता है कि लोकहित की दृष्टि से कर्म करो। और मरने-मारने की कोई परवाह न करो। क्योंकि वेदान्त की दृष्टि से न कोई मरता है, न मारता है। बस, सत्य को मत छोड़ो। जो कुछ सत्य समझते हो, उस पर डटे रहो और सत्य के लिए सब कुछ बलिदान कर दो। कुछ भी हो, सत्य पर आरूढ़ होने से तुम्हें प्रकाश मिलेगा और तुम्हारा कल्याण होगा। सत्य के लिए पहले हँसते-हँसते मरना सीखो। देखो, खबरदार, आँख से एक आँसू न निकले, लड़का मर जावे, स्त्री मर जावे, धन नष्ट हो जाय, पर सत्य का अनुसरण करो और हँसते-हँसते करो। मरने का मजा सीखो, जीते-जी मौत का मजा लूटो। फिर जो जी में आवे करो। हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, ध्रुव, प्रह्लाद वेदान्ती थे, व्यावहारिक वेदान्ती थे। बस, उन्हीं की तरह हँसते-हँसते सत्य पर सब कुछ बलिदान कर दो।

जो पूजा-पाठ करते हैं, जो माला जपते हैं, हनुमान चालीसा पढ़ते हैं, सत्यनारायण की कथा कहते हैं, पर शत्रु के आक्रमण पर मूर्ति छोड़ कर घर में भागते हैं, वे पापी हैं, कायर हैं, ढोंगी हैं। और जो अपने इष्टदेव के लिए, सत्य के लिये अपने को बलिदान कर देते हैं, वही ईश्वर के सच्चे उपासक हैं, व्यावहारिक वेदान्ती हैं। वह मुसलमान जो पाँच वक्त नमाज पढ़ता है और रोजा रखता है, लेकिन पशुबल के आगे सिर झुकाता है, सच्चा मुसलमान नहीं, ढोंगी है। जो मंसूर की तरह सूली पर चढ़ता है, शम्स तबरेज की तरह फाँसी पर लटकाया जाता है, वह सच्चा मुसलमान है, वही व्यावहारिक वेदान्ती है।

व्यावहारिक वेदान्त किसी एक देश और एक काल के लिए नहीं है। यह वह धर्म है, यह वह आदर्श है, जो सब देशों और सब कालों के लिए है। जो योगी वर्षों से समाधिस्थ है, जो सन्यासी वर्षों से त्याग का प्रचार कर रहा है पर समय आने पर कर्तव्य से भाग खड़ा होता है, उसका योग और सन्यास किस काम का! उसे सत्य के लिए मरना सीखना होगा। अमेरिका का वह बच्चा जो अपनी जान की परवाह न करके स्वतंत्रता के लिए बर्लिन पर आक्रमण कर रहा है, वही सच्चा वेदान्ती है। वह उस पण्डित, उस मुल्ला, उस योगी और उस फकीर से लाख दर्जे श्रेष्ठ है, जो जानते-बूझते हुए भी कर्तव्य नहीं करता।

जो यह समझते हैं कि महात्मा जी का रास्ता ठीक है, उन्हें बिना भय और प्रसन्नता के साथ उनके मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। मतलब यह, व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा है, कर्म करो, निष्काम कर्म करो, जो सत्य समझते हो, उसे आचरण में लाओ, पाप यदि कुछ है तो अकर्मण्य रहना, चुपचाप बैठना और अत्याचार सहना। कर्मयोगी बनो, निष्काम कर्मयोगी बनो, यही सच्चा वेदान्त है। शिवमस्तु—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

वर्ष २] जनवरी १९४१ ॐ माघ १९९७ [अङ्क १

आज़ादी

बल बे आज़ादी! ख़ुशी की रूह! उम्मीदों की जाँ।
बुलबुला सा दम से तेरे पेच खाता है जहाँ॥
मुल्क दुनियाँ के तेरे बस इक करिश्मा पर लड़े।
ख़ून के दरिया बहाए, नाम पर तेरे मरे॥
हाय मुक्ति! रुस्तगारी! हाय आज़ादी निजात!
मक़सदे जुमला मज़ाहब है फ़क़त तेरी ही ज़ात॥
क्या है आज़ादी? जहाँ जब जैसा जी चाहे करें।
खाना पीना ऐश गुलछर्रों में सब दिन काट दें॥
क्या यह आज़ादी है? हाय! यह तो आज़ादी नहीं।
गोये-चौगाँ की परेशानी है, आज़ादी नहीं॥
जानेमन! आज़ाद करना चाहते हो आपको।
कर रहे आज़ाद क्यों हो आस्तीं के साँप को॥
हाँ, वह है आज़ाद जो क़ादिर है दिल पर, जिस्म पर।
जिसका मन क़ाबू में है, क़ुदरत है शक्लोइस्म पर॥
ज्ञान से मिलती है आज़ादी, यह राहत सर-बसर।
वार के फेंकूं मैं इस पर दो जहाँ का मालोज़र॥

—राम बादशाह

सहिष्णुता—

"[illegible], प्रतिष्ठा या लोकप्रियता प्राप्त करने की इच्छा प्रायः लोगों को सत्य के मार्ग से विमुख रखती है। इस प्रकार की इच्छा को एक ओर छोड़कर और मस्तिष्क को साम्य अवस्था में रखकर—अर्थात् न उदासी में निराश होकर और न आत्मप्रशंसा के बादलों में उड़कर—यदि हम भारतवर्ष की वर्तमान आवश्यकताओं के प्रश्न पर विचार करते हैं, तो भारत की उस शोचनीय दशा से हमारी मुठभेड़ हो जाती है, जिसमें एक ही पवित्र भूमि में रहने के सम्बन्ध या बन्धन की बिल्कुल परवाह नहीं होती। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि हममें पड़ोसी के प्रेम का शोचनीय अभाव है। धार्मिक सम्प्रदायों ने सच्चे मनुष्यत्व को और इस भाव को कि हम सब एक ही राष्ट्र के अंग हैं, ढक दिया है।"

× × ×

"अमेरिका में भी यदि अधिक नहीं तो हिन्दुस्तान के बराबर तो अवश्य ही पन्थ और मार्ग हैं। परन्तु इन थोड़े-से ऊँचे मनस्वियों को छोड़कर, जिनकी जीविका उनके पन्थ पर निर्भर है, बाकी सब लोगों में कैथोलिक, मैथोडिस्ट और प्रेसबिटेरियन इत्यादि मत-मतान्तरों का भाव देश-बन्धुता के भाव को न कभी दबाता है, न अलग [illegible] करता है [illegible] छोटे-बड़े और [illegible] [illegible] यह भावना रखता है कि नाम-मात्र का धर्माभिमान अमेरिका के लोगों में स्वाभाविक मनुष्यता किंवा प्राणि-मात्र पर दया का लोप नहीं कर देता, जैसा कि भारत में होता है।"

× × ×

"हिन्दुस्तान में मुसल्मानों को हिन्दुओं के साथ एक ही जगह रहते हुए पीढ़ियों पर पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं, परन्तु हिन्दुस्तान में अपने पड़ोस में रहनेवालों की अपेक्षा वह दक्षिण योरप के तुर्कों के साथ सहानुभूति दिखाते हैं। एक बालक जो हिन्दू-बाप के रक्त-मांस से बना है, ज्योंही ईसाई हो जाता है, त्योंही वह एक गली के कुत्ते से भी ज्यादा अपरिचित बन जाता है। मथुरा का एक कट्टर द्वैतवादी वैष्णव दक्षिण के एक द्वैतवादी वैष्णव के लाभ के लिये और अपने ही नगर के एक अद्वैतवादी वेदान्ती का मान भंग करने के लिये क्या नहीं करता? यह सारा दोष किसका है? सब पन्थों के पक्षपात और खोखले ज्ञान का, जो सब जगह एक-सा है। इस अँगरेज़ी कहावत का कि "शत्रु साथ-साथ रहते हैं," वर्तमान भारत की दशा के लिये आरोप करना गलत न होगा। यहाँ एक-राष्ट्रीयता का विचार-मात्र भी एक अर्थहीन कल्पना हो गई है। इसका कारण क्या है? इसका स्पष्ट कारण है मरे हुए मुर्दों की मुर्दा लकीरों से अनुरक्त होकर फकीर हो जाना और [illegible] पक्षपातों की जो धर्म के पवित्र नामों से पुकारे जाते हैं [illegible] दासता' या यों कहो कि

प्रमाण-पालन का चिकना-चुपड़ा नाम देकर आध्यात्मिक आत्मघात करना !"

× × ×

केवल उदार शिक्षा, यथार्थ ज्ञान, सप्रयोग परीक्षण अथवा दार्शनिक विचार-पद्धति के अभ्यास से ही यह असत्य कल्पना दूर हो सकती है, और कोई मार्ग नहीं। आधुनिक शास्त्र-शोधन से निकले हुए उत्तम और मनुष्य-कर्तव्य सिखानेवाले तत्त्व जिस पंथ या धर्म में न हों, उसे कदापि यह अधिकार नहीं है कि वह अपने भोले भक्तों को अपना शिकार बनावे। प्राचीन काल के बहुत-से धार्मिक तत्त्व और प्रथायें राम के मत से तो केवल उस समय के जाने हुए शास्त्र के नियम और सिद्धांत थे। परन्तु वाह रे दुर्दैव ! वे तत्त्व जो पहले बड़े विरोध से माने गये, फिर इस अन्ध-विश्वास के साथ माने गये कि उनको जन्म देनेवाली माता अर्थात् स्वतन्त्र विचार और निदिध्यासन का गला घोंट दिया गया !

× × ×

धीरे-धीरे यह अन्धविश्वास इतना बढ़ गया कि एक बालक 'मैं मनुष्य हूँ,' यह समझने के पहले ही अपने को हिंदू, मुसलमान अथवा ईसाई कहने लगा। जब मत-मतांतरों पर चलनेवालों के आलस्य व जड़ता के कारण व्यक्ति विशेष और ग्रन्थ विशेष के प्रमाणों के आधार पर धार्मिक रीति-रिवाज माने और स्वीकार किये जाने लगे, और जब स्वयं अभ्यास, मौलिक अन्वेषण, चातुर्य और ध्यान इत्यादि—जिससे धर्म-संस्थापकों ने आध्यात्मिक और आधिभौतिक प्रकृति तथा उसके नियमों का दक्षता के साथ अध्ययन किया था, लोप होने लगे, तब सृष्टि के नियमानुसार धर्म की अवनति आरम्भ हो गई। शनैः-शनैः ईसा मसीह के पहाड़ी उपदेश अथवा वैदिक यज्ञों के असली उद्देश्यों को तिलांजलि दी जाने लगी और उन मत-मतांतरों के चलानेवालों के नामों की पूजा बड़ी श्रद्धा से होने लगी। केवल इतना ही नहीं हुआ, वरन् देह (शव) की पूजा करने की अभिलाषा से देही (शिव) का हनन कर दिया गया !

× × ×

उपासना—

जब तक तुम्हारे शरीर की क्रिया उपासना रूप न हो, तुम्हारा ऊपर से उपासना करना व्यर्थ दिखलावा है; निष्फल मन परचावा है। क्रियारूप उपासना का यह अर्थ है कि खाने-पीने, व्यायाम आदि में जो प्रकृति के नियम हैं, उनको रत्तक मात्र भी न तोड़ा जाय। विषय-विकार स्वादों में पड़ना आचरण से ईश्वर की आज्ञा भङ्ग करना है। जिसका दण्ड रोग व्यथादि अवश्य मिलना है। और जब पीड़ा रूपी कारागार में बेंत पड़ रहे हों, उपासना कहाँ हो सकती है ! जिस पुरुष का स्वभाव वैसी ही क्रिया आदि की तरफ ले जाये, जैसा ईश्वरीय नियम चाहते हैं, जिस पुरुष की इच्छा वही उठे जो मानों ईश्वर की इच्छा है, जिसकी आदत, प्रकृति (nature) की आदत हो, वह आचरण से शिवोहम् गा रहा है। उसे दुःख कहाँ से लग सकता है।

जब देखो कि चिन्ता, क्रोध, काम, (तमोगुण) घेरने लगे हैं, तो चुपके उठ कर जल के पास चले जाओ, आचमन करो, हाथ मुँह धोओ, या स्नान ही करलो, अवश्य शांति आ जायगी और हरि-ध्यान रूपी क्षीर-सागर में डुबकी लगाओ और क्रोध के धुएँ और भाप को ज्ञान की अग्नि में बदल दो।

स्वामी रामतीर्थ

[ले०—डा० एन० एन० सेन गुप्ता पी० एच० डी० दर्शनशास्त्र अध्यापक विश्वविद्यालय लखनऊ]

संसार में जितनी भी विशेष गुण सम्पन्न विभूतियाँ हैं वे ईश्वर के अंश हैं—यह विचार भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में किसी समय प्रायः सर्वमान्य था। जब कोई व्यक्ति दूसरों से आगे बढ़ता है, अधिक उन्नति करता है, किसी विशेष गुण या शक्ति को प्राप्त करता है तो लोग कहते हैं, भगवान् की कृपा और प्रेरणा से ही यह उन्नति हो सकी है। मानों मनुष्य अपने व्यक्तिगत उद्योग से केवल प्रारम्भिक और पाशविक दशा में ही रह सकता है, जहाँ केवल शारीरिक वेगों की पूर्ति करना ही उसका काम होता है।

परन्तु कुछ लोग ऐसे पैदा होते हैं जो पाशविक वेगों के बन्धनों को सहज ही तोड़ डालते हैं। उनमें अनादि जीवन की छाया स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। ऐसे ही बड़े आदमियों को हम सिर झुकाते हैं और आदर करते हैं, क्योंकि उनका जीवन सर्वथा नया जीवन होता है जो साधारण मनुष्यों की पहुँच से बाहर होता है।

भगवान् के अवतार, ऋषि, मुनि, समाज-सेवक और ये सब महापुरुष जो अपनी बुद्धि और अनुभूति द्वारा एक नया जीवन दिखाते हैं निश्चय ही भगवान् की दया और कृपा का फल हैं। मनुष्य के शारीरिक और पाशविक मनोविकार तो हमेशा शारीरिक और पाशविक ही रहते हैं।

जब 'अहं' नहीं रहता तब ही भगवान प्रगट होते हैं। खुदी के मिटने से मनुष्य 'खुदा' होता है। अहम् भाव के मिटने का अर्थ ही है पशु-जीवन का नाश और भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण। विद्वान् कहते हैं—'मैं' और 'मेरे' के त्याग से ही मनुष्य शाश्वत जीवन प्राप्त करता है।

सुख-दुख, गर्मी और सर्दी आदि द्वन्द्वों में सदा एक रस रहने ही से मनुष्य पूर्ण त्याग का अधिकारी होता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थ द्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

सहृदय, शत्रु-मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धुबांधव, साधु और पापियों में जो समबुद्धि है, वही विशिष्ट है, योग है, त्याग है।

द्वन्द्वों के बीच में सदा एक सी स्थिति में रहने का नाम ही 'योग' है। "समत्वं योग उच्यते"

जो मनुष्य ऐसी समता को प्राप्त करते हैं वे मानों निरन्तर भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं। प्रह्लाद ने दैत्यों को इसी समता का उपदेश देना चाहा था।

सर्वत्र दैत्य, समतये उपेयुः
समत्वं आराधनं अच्युतेस्य

जो इस प्रकार निरन्तर भगवान् की सेवा में रहते हैं उनमे दिव्य विभूति और दिव्य-शक्ति क्यों न आवे?

यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंऽश सम्भवं॥

जिन मनुष्यों मे आध्यात्मिक शक्ति होती है जिनके ऊपर ईश्वर की कृपा होती है वे स्वयं ईश्वर के अंश हैं, इसमे कोई संदेह नहीं। महापुरुषों और सन्त महात्माओं के जीवन और शिक्षाओं के प्रति हमारे हृदय में ऐसा ही पूजा का भाव होना है जैसा कि आज उस महापुरुष के जीवन का वार्षिकोत्सव मनाते समय हमारे हृदय मे प्रकट हो रहा है। ये है हमारे परम पूज्यनीय महापुरुष स्वामी राम।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

के

मनोनीत सभापति श्री सम्पूर्णानन्द जी का अभिभाषण

स्वागताध्यक्ष महोदय और मित्रो,

सम्मेलन के सभापति पद पर आसीन करके आपने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है उसके लिए मैं आपका ऋणी हूँ। हिन्दी-जगत् किसी को इससे बड़ा सम्मान नहीं दे सकता। जब मैं उन लोगों की सूची पर दृष्टि डालता हूँ जो आज तक इस गद्दी को सुशोभित कर चुके हैं तो फिर नतमस्तक होकर आपको चुपचाप धन्यवाद देने के सिवा मेरे लिये और कुछ सम्भव नहीं रह जाता।

सम्मेलन का सभापति यदि अपने इस गौरव पर गर्व करे तो उसका ऐसा करना सर्वथा अक्षम्य न होगा। मुझको सम्मेलन के पहिले अधिवेशन में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तब से आजतक इसने जो उन्नति की है वह हमारे सामने है। इसने प्रत्यक्ष रूप से या अपनी शाखा और सम्बद्ध संस्थाओं के द्वारा हिन्दी की जो सेवाएं की हैं, जिस प्रकार विद्वानों और लेखकों ने इसे पल्लवित किया है, जिस भाँति इस को देश के गण्यमान्य नेताओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उसे देखकर किस हिन्दीप्रेमी को हर्ष न होगा ? हिन्दी के वाङ्मय-भण्डार में जो कमियाँ हैं उनको हम जानते हैं, फिर भी यह उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं से भर रहा है, इतना तो सब को ही स्वीकार करना होगा। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं और प्रति वर्ष प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों तथा परीक्षाओं में हिन्दी लेनेवाले छात्रों की संख्याएँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि कृत्रिम बन्धनों के हटने पर हिन्दी अपने नैसर्गिक स्थान पर फिर आ रही है। सम्मेलन की परीक्षाओं में बैठनेवालों की संख्या भी इस प्रमाण को पुष्ट करती है। आज जिस प्रकार दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार-कार्य हो रहा है, वह राष्ट्रभाषा के उज्ज्वल भविष्य का पुकार पुकार कर परिचय दे रहा है। इस सारी प्रगति को सम्मेलन ने सम्भव बनाया है, इसलिए यदि वह व्यक्ति जो सम्मेलन का सभापति चुना जाय, कुछ गर्व करे तो उसका ऐसा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

पूने का महत्त्व

पर मैं यह भी जानता हूँ कि यह पद केवल प्रतिष्ठा ही नहीं, कर्तव्य भी प्रदान करता है। सम्मेलन के सभापति को हिन्दी की सेवा करने का अनुपम अवसर मिलता है। सम्मेलन आज पूने में हो रहा है। यह नगर हमारे देश का एक प्रतिष्ठित विद्यापीठ है। हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। बहुत पहिले की बात जाने दीजिये, पिछले सौ वर्षों में, अंग्रेजी-शासन के मध्याह्न काल में ही इस नगर ने जिन विभूतियों को जन्म दिया है उनकी छाप हमारे इतिहास पर अमिट रहेगी। कोई उनकी सारी कार्य-शैली, उनकी समग्र विचारधारा से सहमत हो या न हो पर उनकी एकनिष्ठा, लगन, अध्यवसाय तो हम सबके ही लिये आदर्श हैं। एक लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का नाम ही पूने की ख्याति को अमर करने के लिए पर्याप्त होता। उनकी विद्वत्ता, उनका धैर्य और साहस, उनकी दूरदर्शिता, उनका तप और त्याग—भारत इन बातों को कभी भूल नहीं सकता। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर उन्होंने इस क्षेत्र में काम करने वालों को जो स्फूर्ति दी वह आज भी हमें प्रभावित कर रही है। आज लोकमान्य का पाञ्चभौतिक शरीर हमारे बीच में

नहीं है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी आत्मा का आशीर्वाद हमको सतत मिल रहा है। ऐसे स्थान में सम्मेलन का होना उसके कार्यकर्ताओं को स्वभावतः कार्यक्षमता प्रदान करता है। फिर, आज हिन्दी एक विशेष परिस्थिति में से होकर निकल रही है, जब उस पर चौमुख प्रहार हो रहा है, तब तो और भी कार्यकुशलता की आवश्यकता है। मैं नहीं कह सकता कि मैं कहाँ तक सेवा कर सकूँगा। आपको यह विश्वास तो दिलाता हूँ कि अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करूँगा। परन्तु सम्भव है कि राजनीतिक परिस्थितियाँ मुझे कुछ भी न करने दें। ऐसी दशा में आप से पहिले से ही क्षमायाचना करता हूँ।

सबसे पहिले तो मैं अपनी ओर से और आपकी ओर से उन ज्ञात और अज्ञात साहित्यसेवियों की सेवा में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना चाहता हूँ जो इस साल हमारे बीच से उठ गये हैं।

मैं सोचता हूँ कि आपके सामने किस विषय पर निवेदन करूं। सम्मेलन के मञ्च से बहुत से विषयों पर बोला जा सकता है और सभी विषय अपना अपना महत्व रखते हैं, पर इन सब के लिए न मुझमें योग्यता है, न आपके पास समय। इन पर तो हमारी परिषदों में अधिकारी विद्वान् प्रकाश डालेंगे। यहाँ तो मैं कुछ बातों का दिग्दर्शनमात्र करा सकता हूँ।

हमारा वाङ्मय भण्डार

मैंने अभी पहिले कहा है कि हमारा वाङ्मय-भण्डार उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों से भरता जाता है। यह बात सत्य है, पर जिस गति से यह बात हो रही है वह सन्तोषप्रद नहीं है। मैं जानता हूँ कि कई विषय ऐसे हैं जिन पर यदि पुस्तक लिखी जाय तो उसकी खपत होना कठिन हो जाता है। मुझे स्मरण है कि जब आज से कई वर्ष पहिले अन्तर्राष्ट्रीय विधान पर मेरी पुस्तक निकली थी तो एक विद्वान समालोचक ने कहा था कि [illegible] इस [illegible] पुस्तक का [illegible] [illegible] का [illegible] "कालो ह्यनन्तो, विपुला च पृथिवी" समझ कर अनागत गुणग्रहण की बात सोचकर सन्तोष कर ले पर प्रकाशक तो इस भरोसे रुपया नहीं लगा सकता। खेद की बात है कि अभी विज्ञान या दूसरे विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों की माँग नहीं है। दूसरों की तो बात ही न्यारी है, हिन्दू विश्वविद्यालय ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया है। नेपाल स्वतंत्र राज है और प्राचीन भारतीय संस्कृति का संरक्षक माना जाता है। उसको चाहिये था कि अपनी सीमा में एक विश्वविद्यालय स्थापित करता और राष्ट्र भाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाता। कश्मीर और बड़ौदा तथा दो एक और राज भी ऐसा कर सकते हैं। यदि उनका ध्यान उधर जाय तो उनकी प्रजा में शिक्षा का प्रचार बढ़े, संस्कृति का विकास हो और हिन्दी वाङ्मय की वृद्धि और उन्नति हो। मैं समझता हूँ कि यदि हिन्दी विद्यापीठ एक पढ़ानेवाला विश्वविद्यालय बन सके और कुछ ऐसे ही और भी विद्यालय खुलें तब भी इस दिशा में कुछ काम हो सकता है। परीक्षाओं की लोकप्रियता तो इस प्रयास की सफलता का सूचक चिन्ह है। पर जहाँ माँग की कमी है वहाँ यह भी मानना पड़ेगा कि प्रकाशक अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं। भारत, विशेषतः हिन्दू समाज में दार्शनिक विषयों के अध्ययन के प्रेमियों की बहुत बड़ी संख्या है परन्तु दुःख की बात है कि पाश्चात्य की कौन कहे प्राच्य दर्शनों पर भी अच्छी पुस्तकों का अभाव है। भारतीय गणित और ज्यौतिष, धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र, कला और वाङ्मय के सम्बन्ध में विदेशी भाषाओं में बड़े सुन्दर ग्रंथ मिलते हैं। भारतीय दृष्टि और भारतीय आधारों पर समाजशास्त्र पर पुस्तकों के लिखे जाने की आवश्यकता है। अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं में बच्चों की ज्ञानवृद्धि के लिए जैसी पुस्तकें मिलती हैं वैसी केवल [illegible] भी [illegible] नहीं हैं। मेरा [illegible] इन विषयों पर अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित

किये जायँ तो उनके लिए ग्राहकोंकी कमी न रहेगी। केवल चलतऊ पुस्तकों को निकाल कर प्रकाशक कुछ पैसे भले ही कमा लें पर हिन्दी को उनसे कुछ अधिक आशा रखने का अधिकार है।

हिन्दी में पद्य-रचना

हमको अपने कवियों की रचना पर उचित अभिमान है। गद्य भले ही बहुत पुराना न हो पर पद्य रचना की परम्परा तो सैकड़ों वर्षों से अविच्छिन्न रूप से चली आरही है। उसने समय के साथ अपने रूप में भी परिवर्तन किया है। उसने अन्तरिक्ष पर क्षण भर के लिए टिके हुए भारत के स्वातंत्र्य-सूर्य को अपने सामने डूबते देखा है; आर्य और अनार्य संस्कृति का संघर्ष उसकी आंखों के सामने हुआ; उसे उन दरबारों में आश्रय मिला था जहां भोग-विलास में डूब कर अपनी खोयी हुई आत्मा की स्मृति भुलायी जाती थी; और आज वह भारत का स्वराज-आन्दोलन तथा पृथ्वी पर नवयुग का प्रसव अपनी आंखों देख रही है। कवि के कानों में जगती के रोगियों और दुखियों का क्रन्दन है, उसकी आंखों के सामने एक ओर अपमानित भारत का हताश कलेवर और कोटि कोटि अर्धभूखों के कंकाल और दूसरी ओर धार-स्थानों की गगनचुम्बी चिमनियां और मिलों के [illegible] विलासमूर्ति हैं। उसका हृदय इन दृश्यों से विचलित होता है, विक्षिप्त होता है। सदा कवि इन दुखियों को छोड़कर भाग नहीं जाता। वह देखता है पर आंसुओं की झड़ी में से उसे आशा की किरणें भी देख पड़ती हैं। उसकी आंखों के सामने भविष्य का चित्र भी खिंच जाता है। वह [illegible] नहीं, पर उसमें भी सत्य की [illegible] देख सकते हैं [illegible]

उत्पीड़ित मानव जाति को सन्देश और उपदेश मिलना चाहिए।

मैं आधुनिक कविता को देखता हूं। मुझे यह भरोसा है कि वह इस युग का प्रतीक बनने का प्रयत्न कर रही है। उसमें निराशा, खोज, शंका, अश्रद्धा, अतृप्ति, संघर्ष, विप्लव, वेदना—वह सब भाव जो आज सहस्र-सहस्र भारतीय नर-नारियों को उद्वेलित कर रहे हैं—मिलते हैं। पर अभी उसके स्वर में आत्मभरी दृढ़ता नहीं है, उसके पास सन्देश नहीं है। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही यह अभाव भी दूर होगा और कवि नव-युग का पथप्रदर्शक बनेगा। पर इसके लिये उसको तपस्या करनी पड़ेगी। सत्य बिना आयास के नहीं मिलता। तपस्या के साथ त्याग भी चाहिये। व्यास और वाल्मीकि ने जिस मार्ग को प्रशस्त किया है उस पर त्याग, तपस्या और निर्भयता का ही पाथेय काम देता है। जो ऐसा कर सकता है वही समाज का पथप्रदर्शक बन सकता है। उसी की वाणी अमर होगी।

लेखकों से निवेदन

अपने लेखकों से एक निवेदन और करना है। मैं भी उन में से एक हूँ, इसी नाते ऐसा साहस करता हूँ। वह [illegible] पहिचानें। हम कहते हैं और ठीक कहते हैं कि जो साहित्य दरबारों के कृत्रिम वातावरण में पला था वह स्वयं कृत्रिम था—उसमें जनता के हृदयोद्गारों की ध्वनि नहीं थी। पर यही दोष उस साहित्य में भी है और होगा जिसकी सृष्टि आज के मध्यम वर्ग के कृत्रिम वातावरण में होगी। यह वर्ग जनता—असली जनता से बहुत दूर है। इसकी अनुभूतियां इसकी आकांक्षाएं, जनता की [illegible] से बहुत दूर हैं। दो चार दिन किसी गांव में रहकर [illegible] जीवन पर रचना करना, उसकी [illegible]

भूख की ज्वाला पर छींटे देने के लिये इन शर्तों पर लिखना स्वीकार करता है, वह कलाकार नहीं हो सकता। सब लोग प्रेमचन्द नहीं हो सकते, पर ऐसी परिस्थिति में प्रेमचन्दों का पनपना भी कष्टसाध्य है। ग्रंथकारों को इन बातों से कष्ट होता है पर अभी वह सतर्क नहीं हुए हैं। सरस्वती का उपासक शान्त होता है, सन्तोषी होता है, परन्तु यदि वह इस प्रकार अपनी लेखनी को थोड़े से लोगों की स्वार्थसिद्धि का उपकरण बनने देता है तो वह वाग्देवता की अप्रतिष्ठा करने का अपराधी है। यदि स्थान स्थान में लेखक-संघ स्थापित हो जायं तो हिन्दी की सेवा हो, सुरुचि का प्रसार हो और लेखकों के स्वत्वों की भी रक्षा हो।

दो शब्द पत्रकारों से

मैं दो शब्द पत्रकारों से भी कहने की धृष्टता करता हूँ। उन को जिन कठिनाइयों का सामान्यतः सामना करना पड़ता है उनसे अपरिचित नहीं हूँ। आज तो उन पर ऐसा प्रबल प्रहार हो रहा है कि जीवन-मृत्यु का प्रश्न उपस्थित हो गया है। वह जिस धैर्य और साहस से इन परिस्थितियों का सामना करते हैं उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। परन्तु मुझ को यह शिकायत है कि ये बहुत सन्तोषी हैं। साधन तो कम हैं ही; पर हमारे पत्र एक दूसरे को ही आदर्श मान लेते हैं, अंग्रेज़ी के पत्रों की बराबरी करने की महत्वाकांक्षा भी उनको कम ही रहती है। सम्पादन अग्रलेख लिखने तक ही परिसीमित रह जाता है। पत्रिकाएँ भी अपने को अभी इस दोष के ऊपर नहीं उठा सकी हैं। पृष्ठ भरे तो जाते हैं पर जिस चीज़ से भरना है उसकी ओर पर्य्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। अच्छी सामग्री देने में व्यय तो होगा पर इसके बिना पाठकों की सुरुचिपूर्ण सेवा हो भी नहीं सकती। समालोचना का प्रबंध तो बहुत ही कच्चा है। बहुधा ऐसे लोगों को यह काम सौंपा जाता है जो आलोच्य पुस्तक के विषय से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनकी आलोचना पुकार पुकार कर इस बात का प्रज्ञापन करती है। अधिकारी आलोचना कराने में व्यय तो होगा पर ऐसी ही आलोचना अच्छे-बुरे की परीक्षा कर सकती है और लेखक, प्रकाशक तथा पाठक के लिये उपयोगी हो सकती है।

अब मैं उस विषय की ओर आता हूँ जो आज हिन्दी के प्रत्येक प्रेमी के हृदय को क्षुब्ध कर रहा है। मैंने आरम्भ में ही कहा था कि हिन्दी पर चौमुख प्रहार हो रहा है। हम इस प्रहार से डरते नहीं। पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षों में हिन्दी को राजाश्रय नहीं मिला, उल्टे उसे राज की उदासीनता और विरोध का सामना करना पड़ा है। आपत्तियों की गोद में वह पली है। हम को विश्वास है कि वह आज की परिस्थिति को भी झेलने में समर्थ होगी। अमर भारती की इस लाड़ली के स्वरों में भारत की राष्ट्रीय आत्मा बोलती है; उसे कोई कुचल नहीं सकता।

सरकार और हिन्दी

फिर भी परिस्थिति को समझ तो लेना ही चाहिए। सरकार की हिन्दी और नागरी पर कभी कृपा नहीं रही। जिस लिपि को कोटि-कोटि भारतवासी अपनी पवित्र लिपि मानते हैं उसको भारत की मुख्य मुद्रा रुपये पर स्थान नहीं है। आप उसे रुपये के नोट पर न पायेंगे। सरकार का रेडियो विभाग तो हिन्दी के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। कहने को तो वह अपने को हिन्दी-उर्दू से अलग रखकर हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा मानता है पर उसकी हिन्दुस्तानी उर्दू का ही नामान्तर है। मैंने शिकायतें सुनी हैं कि 'टाक्स' में संस्कृत के तत्सम शब्दों पर क़लम चला दी जाती है। यह हो या न हो, उसकी हिन्दुस्तानी के उदाहरण तो हम नित्य ही सुनते हैं। यदि 'मृग' जैसा शब्द भी आ गया तो 'यानी हिरन' कहने की आवश्यकता पड़ती है पर 'शफ़क़', 'तसव्वुर, 'पेशकश' 'वक़्तफ़ुल' जैसे शब्द सरल और सुबोध माने जाते हैं। रेडियो विभाग समझता है कि साधारणतया हिन्दू-मुसलमानों

के घर यही बोली बोली जाती है। रेडियो का 'अनाउंसर' कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में 'आदाब अर्ज' करना ही शिष्टाचार है। संस्कृत शब्दों के शुद्ध उच्चारण न करने की तो शपथ खा ली गयी है। नामों तक की दुर्गति कर दी जाती है। आचारिया, रिकरणाजीत, इन्दर, यह सब तो इनके बायें हाथ के खेल हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार ने हिन्दी भाषा को बिगाड़ने और जनता में उस संस्कृति का, जिसकी यह भाषा प्रतीक है, विकृत रूप उपस्थित करने के लिए ही इनको नौकर रख छोड़ा है। हिन्दू त्योहारों पर अरबी-फारसी शब्दों से भरी ऐसी भाषा में भाषण सुनने में आये हैं कि कुछ कहा नहीं जाता। इन भाषणों को करने वाले हिन्दू भी होते हैं; स्यात् इनका चुनाव ऐसी बोली बोल सकने की योग्यता के ही कारण होता है। हम को इस ओर सतर्क रहना है। जो लोग रेडियो सुनते हैं उनको संगठित होना चाहिये। मुझे यह जानकर हर्ष होता है कि लखनऊ में एक लिसनर्स असोसिएशन स्थापित हुआ है और आकाशवाणी नाम की एक पत्रिका भी निकाली गयी है। केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के सदस्यों को सरकार पर दबाव डालना चाहिये और हिन्दी-प्रेमियों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिये।

मेरे मित्र पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी ने मेरा ध्यान उस आदेश की ओर आकर्षित किया है, जो बुन्देलखण्ड और बुन्देलखण्ड में जनगणना करनेवालों को दिया गया है। उस में कहा गया है कि यदि कोई हिन्दी या उर्दू को अपनी मातृभाषा बतलावे तो तुम हिन्दुस्तानी लिखो। देखने में तो इसमें अकेले हिन्दी के विरुद्ध कोई बात नहीं है, पर जहां पञ्जाब और हैदराबाद जैसे प्रदेशों में उर्दू बोलने वालों की संख्या लिखी जाय; वहां ऐसे प्रान्तों में जिनकी भाषा हिन्दी है, हिन्दी का नाम न लिया जाय उर्दू के साथ खुला पक्षपात है। मुझे बतलाया गया है कि यह सन् १९२१ से होने लगा है। मैं नहीं कह सकता कि पहले इसका विरोध किया गया था या नहीं। अब समय थोड़ा रह गया है, फिर भी इसके लिए पूरा आन्दोलन करना चाहिए।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

अब मैं हिन्दी, उर्दू [illegible] में कुछ कहना चाहता हूँ। मेरी निज [illegible] अपरिचित नहीं हैं। आप में से बहुतों ने [illegible] व्यवहार देखा है जो चार साल हुए [illegible] हुआ था। मेरा अब भी विश्वास है [illegible] सम्मति प्रकट की थी वह समीचीन है। [illegible] भाषा का हिन्दी नाम इसे कतिपय मुसलमान [illegible] दिया पर हमने इसे अपना लिया। यह [illegible] प्यारा है, और इसमें साम्प्रदायिक या [illegible] प्रकार का दोष नहीं है। इसे उर्दू नाम से [illegible] कोई कारण नहीं है। पृथिवी पर भारत ही [illegible] देश नहीं है। दूसरी जगहों में भाषा का नाम [illegible] नाम पर होता है। फ्रांसीसी, अंग्रेजी, [illegible] ईरानी—यह सब नाम देशों से सम्बन्ध [illegible] हिन्दी भी ऐसा ही नाम है, पर उर्दू में [illegible] है। यह नाम इस देश के नाम से [illegible] रखता। अब यह प्रश्न उठाया जाता है [illegible] न हिन्दी कहा जाय, न उर्दू, प्रत्युत हिन्दुस्तानी [illegible] पुकारा जाय। मैं स्वयं तो उन लोगों में [illegible] बात को मानने को प्रस्तुत हूँ। यदि [illegible] भर से काम चल जाय तो यह समझौता बुरा नहीं [illegible] यह देश हिन्दुस्थान भी कहलाता ही है। [illegible] प्रश्न नाम का नहीं, भाषा के स्वरूप का है। [illegible] ऊपर से भले ही नाम के लिए किया जाता [illegible] उसके भीतर भाषा के स्वरूप का विवाद छिपा [illegible] बात को समझ कर हमको अपना मत [illegible] देना है।

हिन्दी जीवित भाषा है

हिन्दी (या यह हिन्दुस्थानी जिसकी मैं [illegible] करता हूँ) जीवित भाषा है और रहेगी। यह [illegible] पढ़े-लिखों तक ही परिसीमित न रहेगी। [illegible]

हृदय और मस्तिष्क का अभिव्यंजन होना है। दार्शनिक विचारों, वैज्ञानिक तथ्यों और हृदत ...के व्यक्त करने का साधन बनना है। इनको ...के बाहर से आये हुए शब्दों का प्रयोग करने में ...ना नहीं है। अरबी-फारसी के सैकड़ों शब्द ...जाते हैं, लिखे जाते हैं। यह बात आज से चन्दबरदाई और पृथ्वीराज के समय से चली ...ी है। सूर, तुलसी, कबीर, रहीम सब ने ही ...ब्दों का प्रयोग किया है। अंग्रेजी के शब्दों को ...नने अपनाया है। योगी को सुषुम्ना नाड़ी में ...े जाने पर जिस दिव्य ज्योति की अनुभूति होती ...का वर्णन करते हुए आज से दो सौ वर्ष पहिले ...ासजी ने लिखा था 'सुखमना सेज पर लम्प ...।' ये सब शब्द चाहे जहाँ से आये हों ...ही हैं। आगे भी जो ऐसे शब्द आते जायँगे वे ...होंगे। हम उनको हठात् कृत्रिम प्रकार से नहीं ...वे आप भाषा में अपने ढङ्ग से मिल जायँगे। ...नके आ जाने पर भी भाषा हिन्दी ही है और ...। जिस प्रकार पचा हुआ भोजन शरीर का ...ान्य अङ्ग हो जाता है उसी प्रकार यह हिन्दी के ...हैं और होंगे। उनकी पृथक् सत्ता चली ...ी। जीवित भाषायें ऐसा ही करती हैं। हम ...ा के शब्दों को भी इसी प्रकार अपनाते हैं, उनको ...शब्द बना लेते हैं। इसका बड़ा प्रमाण यह है ...द हिंदी में आने पर संस्कृत के व्याकरण को छोड़ ..., हिंदी व्याकरण के अधीन हो जाते हैं। राजा का ...बन राजानः, भुवन का भुवनानि, स्त्री का स्त्रियः ...किया जाता। कोई लेखक ऐसे प्रयोग करने का ...हस नहीं करता। संस्कृत व्याकरण के विरुद्ध होते ...भी 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द हिन्दी में व्यवहृत है। ...द्ध रूप चलाना चाहा, पर सफल न हुआ। परन्तु ...उर्दू लेखक सुल्तान का बहुवचन सलातीन, ...का मुनाफ़िक, कानून का कवानीन लिखता है। ...ब्द अपना विदेशीपन नहीं छोड़ते और इसी विदेशीपन के अभिमान से भरे हुए शब्दों में ही उर्दू का उर्दूपन है, अन्यथा क्रिया, सर्वनाम, उपसर्ग, अव्यय—ये सब शब्द जो भाषा के प्राण हैं—हिन्दी-उर्दू में एक ही हैं। हम ऐसी कृत्रिम भाषा को, जो जनता में फैल ही नहीं सकती, हिन्दी या हिन्दुस्तानी नहीं मान सकते। वह हमारे किसी काम की न होगी। मैं फिर कहता हूँ कि हम को अरबी-फारसी के शब्दों से चिढ़ नहीं है। गुजराती, मराठी, बंगला सब में ऐसे शब्द हैं। ऐसे बहुत से घराने हैं जिनके यहाँ पूजा-पाठ में, विवाहादि उत्सवों में, अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग होता है। बिना बनावट के उनके मुँह से ऐसे शब्द निकल जाते हैं। यह नहीं हो सकता कि आज यकायक एक वेदपाठी ब्राह्मण और एक हाफ़िज़ की भाषा में पूर्णतया साम्य हो। पर जो स्वाभाविक वैषम्य होगा उससे हमारी कोई हानि नहीं होती। हम तो कृत्रिम भाषा के, जिसमें व्यर्थ अरबी-फारसी शब्द ठूँसे जाते हैं, विरुद्ध हैं। मेरा तो यह विश्वास है कि यदि हमारी भाषा में स्वाभाविक प्रकार से एक ही अर्थ के द्योतक दो तीन शब्द—एक संस्कृत का, एक अरबी या फारसी का,—आ जाय तो उससे भाषा का भण्डार भरता है और वाङ्मय में सुन्दरता आती है। अंग्रेजी को लीजिये। एक ही अर्थ में क्वेरी, क्वेश्चन, इन्टरोगेशन, इन्टर्पेलेशन जैसे शब्द आते हैं। इनमें क्रमशः थोड़ा सा सूक्ष्म प्रयोग भेद हो गया है। ऐसा हमारे यहाँ भी क्यों न हो? एक अर्थ में बार बार एक ही शब्द क्यों प्रयुक्त हो?

पर इसके साथ ही एक और बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए। हम प्रचलित शब्दों को निकालना नहीं चाहते। जो नये शब्द स्वाभाविक रूप में पूर्णतया हमारे बनकर आ जायँगे हम उनको भी अपनायेंगे। जो बर्ताव तुर्कों ने अरबी के साथ किया हम उसका अनुकरण नहीं करना चाहते। परन्तु यह भी निश्चित है कि हमारी भाषा में अधिकतर स्वदेशी

अर्थात् संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द रहेंगे। यदि इस भाषा को राष्ट्रभाषा कहना है, यदि इस को सीमाप्रांत ही नहीं वरन् बंगाल और गुजरात, महाराष्ट्र और मलाबार में भी बरता जाना है, तो न केवल वाङ्मय प्रत्युत साधारण बोलचाल और लिखावट में भी इस सिद्धान्त को मान लेना होगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

युक्तप्रान्त की मातृभाषा उर्दू नहीं

बार बार यह कहा जाता है कि कम से कम युक्तप्रान्त की तो मातृभाषा उर्दू है। मैं ऐसा नहीं मान सकता। हमारे सामने कुछ हिन्दू मूर्तियाँ खड़ी कर दी जाती हैं और उनके मुँह से यह कहला दिया जाता है कि उनके घरों की भाषा उर्दू है। होगी। हमारे लिए यह हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं है। हम ने कबीर, जायसी, रहीम, रसखान या मीर और अजमेरी को साहित्यकार और हिंदी-प्रेमी की दृष्टि से देखा—उनके धार्मिक विचारों से हमसे कोई सरोकार नहीं। पर सरकारी अदालतों के चारों ओर मंडराने वाले मुट्ठी भर व्यक्तियों की सम्मति प्रामाणिक नहीं हो सकती। युक्तप्रान्त में और लोग भी रहते हैं। जहाँ दिल्ली और लखनऊ अदबी मरकज़ हैं, वहाँ मथुरा, आगरा, प्रयाग और काशी भी साहित्यिक केन्द्र हैं।

पर प्रत्यक्ष रूप से उर्दू, या अप्रत्यक्ष रूप से कृत्रिम असार्वजनीन हिन्दुस्थानी, के नाम पर हिन्दी का विरोध करने वाले तर्क से बहुत दूर हैं। हैदराबाद की भाषा इसलिए उर्दू है कि वहाँ का राजवंश मुस्लिम है और कश्मीर की भाषा इसलिए उर्दू है कि वहाँ की प्रजा में अधिक संख्या मुसलमानों की है। पञ्जाब में उर्दू इसलिए पढ़ानी चाहिए कि वहाँ ५५ प्रतिशत मुसलमान हैं और विहार में इसलिए पढ़ानी चाहिए कि वहाँ मुसलमान १२ प्रतिशत भी नहीं हैं। यहाँ भाषा का नहीं, साम्प्रदायिकता का प्रश्न है। हम सबको इस बात का अनुभव है कि किसी भाषण में जहाँ कोई संस्कृत का तत्सम शब्द आया, वहीं उर्दू के हामी बोल उठते हैं कि साहब, आसान हिन्दुस्थानी बोलिये, हम इस ज़ुबान को नहीं समझते, परन्तु हिन्दीप्रेमी क्लिष्ट, अरबी-फ़ारसी शब्दों की बौछार को प्रायः चुपचाप सह लेते हैं। हिन्दुस्थानी नामधारी उर्दू के समर्थकों का द्वेषभाव कहाँ तक जा सकता है, उसका एक उदाहरण देता हूँ। अभी थोड़े दिन हुए, राष्ट्रपति अबुलकलाम आज़ाद को प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रों की ओर से एक मानपत्र दिया गया। उस पर उर्दू के समर्थकों के मुखपत्र "हमारी ज़ुबान" ने एक लंबी व्यंगमयी टिप्पणी लिखी। उसने उन शब्दों को रेखांकित किया, जो उसकी सम्मति में हिन्दुस्थानी में न आने चाहिए। यह कहना अनावश्यक है कि ये सब शब्द संस्कृत से आये हुए थे। यह बात तो कुछ समझ में आती है। यह भी कुछ कुछ समझ में आता है कि इन लोगों की दृष्टि में अरबी-फ़ारसी से निकले हुए दुरूह शब्द सरल और सुबोध हैं। पर विचित्र बात यह है कि मानपत्र का अंग्रेज़ी का कोई शब्द भी रेखाङ्कित नहीं है। यह द्वेष-भाव की पराकाष्ठा है। जिस हिन्दुस्थानी में अंग्रेज़ी को स्थान हो, पर संस्कृत के शब्द छाँट छाँट कर निकाल दिये जाने वाले हों, वह कदापि इस देश की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती।

हिन्दी के विरुद्ध निराधार प्रचार

ये सज्जन हिन्दी के विरुद्ध जैसा निराधार प्रचार करते हैं उसका विस्तृत विवरण देना तो आपका समय नष्ट करना है। केवल एक उदाहरण देता हूँ। "हमारी ज़ुबान" के १६ जुलाई १९४० के अंक में हिन्दीवालों पर यह आरोप किया गया है कि वह प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकाल कर नये शब्द गढ़ कर चलाना चाहते हैं। इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं, जैसे—

सूबे मुत्तहिदा	की जगह	जुट प्रान्त
मुद्दई	,,	झगड़ा पेलडू
मकान	,,	घोंपड़ा

हो गया है। मैं भी समझता हूँ कि कुछ परिशोधन की आवश्यकता है, परन्तु ऐसा न होना चाहिए कि केवल छापे की सुविधा के नाम पर हम सारी पुरानी परम्परा से नाता तोड़कर एक नये प्रकार की ही लिपि का निर्माण कर डालें। देवनागरी लिपि भारत के सभी कोनों में न्यूनाधिक प्रचलित है और बिना प्रबल कारणों के इसमें यों ही परिवर्तन न करने चाहिए।

साहित्यसेवियों की सहायता

इसकी एक बात का कुछ प्रबन्ध करना चाहिए। हमारे देश में अभी वह दिन नहीं आया है जब ग्रन्थ-निर्माण और पत्रकारी से कोई धनोपार्जन कर सके। हम आये दिन देखते हैं कि अच्छे साहित्यसेवी उठ जाते हैं और अपने परिवार को निराश्रय छोड़ जाते हैं। कितनों को अपनी रुग्णावस्था में औषधि और पथ्य तक के लिए प्रबन्ध करना दूभर हो जाता है। इन लोगों की सेवा करना हमारा कर्तव्य है। व्यक्तिगत रूप से कोई धर्मात्मा सहायता कर दे यह तो ठीक ही है पर यदि सम्मेलन के पास इसके लिए कोई कोष हो और वह इसका प्रबंध करे तो बहुत अच्छा हो।

प्रचार की आवश्यकता

यह तो आप निश्चय करेंगे कि अगले बारह महीनों में सम्मेलन क्या करेगा। दो एक निवेदन करना चाहता हूँ। एक तो मैंने अभी एक विशेष काम के लिए कोष संचय करने की बात आपके सामने रखी है। यों भी सम्मेलन के साधारण कामों के लिए कोषसंग्रह होना चाहिये। सम्मेलन को प्रचार की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। हिन्दी पर जो चारों ओर से प्रहार हो रहा है, उसका सामना करने के लिए अधिक जागरूक और क्रियाशील होने की आवश्यकता है। थोड़ी सी देर हो जाने से कितनी ही अच्छी बातें भी अपनी उपयोगिता खो बैठती हैं। एक बात और। मैं चाहता हूँ कि सरकारी कागजों की पूरी छानबीन करके एक प्रामाणिक पुस्तक इस विषय पर निकाली जाय कि जिस समय फ़ारसी सरकारी भाषा के पद से हटी उस समय जो सरकारी आज्ञायें निकलीं उनकी कितने और किस प्रकार अवहेलना की और वर्तमान उर्दू के समुदय में फोर्ट विलियम का कहां तक हाथ रहा है।

बस, मैं और कुछ अधिक नहीं कहूँगा। यदि हम और सतर्क रहें और अपने हिन्दी-प्रेम का व्यावहारिक परिचय देने और इसके लिए कुछ त्याग और तपस्या के लिए सन्नद्ध रहें तो हम सम्मेलन को सफल बना सकते हैं। भगवती भारती हमको ऐसा आशीर्वाद दे, यही उसके चरणों में मेरी विनम्र प्रार्थना है।

इति शम्

नोट—जैसा सभापति महोदय ने अपने भाषण में आशंका प्रकट की थी कि संभव है कि राजनीतिक परिस्थितियाँ कुछ गड़बड़ करें, वही बात हुई। सम्मेलन के [illegible] २०, नवम्बर ४० को [illegible] और अब देश [illegible] के लिए [illegible] रहे हैं। सम्मेलन के अधिवेशन में [illegible] श्री पुरुषोत्तमदास [illegible] ने [illegible] किया था और सम्मेलन के [illegible] ने [illegible] [illegible] [illegible] हुई कि [illegible] [illegible] [illegible] था, [illegible] [illegible] —सं०

दृष्टि और व्यवहार

[ले०—श्री विद्यानन्द जी एम० ए०, एल० टी०]

प्रतिपदा कार्तिकी को श्री स्वामी रामतीर्थजी महाराज का जन्मोत्सव था। श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग के दफ्तर में कुछ राम प्रेमी बैठे बात कर रहे थे। लखनऊ के प्रसिद्ध कलाकार श्री सी० मल भी उस गोष्टी में सम्मिलित थे। इधर उधर की बातचीत के पश्चात कला पर कुछ बात छिड़ी। मल साहब ने एक बात कही जो मेरे हृदय में बैठ गई। उन्होंने कहा कि "प्रकृति में कुरूपता कहीं नहीं है, किन्तु सुन्दरता देखने के लिये कलाकार की दृष्टि चाहिये।" मधुमक्खी तो केवल पुष्पों से ही रस लेती है, परन्तु कलाकार के लिये प्रकृति का कोई स्थान ऐसा नहीं जो वर्जित हो। युद्ध-भूमि बर्बरता की भूमि है, परन्तु जब वह महाकाव्य का रूप धारण करती है अथवा एक चित्र के रूप में प्रकट होती है, उससे कोई घृणा नहीं करता। शोक और दुःख किसको सुन्दर लगते हैं, परन्तु जब चित्रकार एक शोकग्रसित अबला का चित्र सन्मुख रखता है, उसे कौन नहीं अपनाता। बच्चा जब रुदन करता है उसको सबही चुप करने का यत्न करते हैं, परन्तु रोते हुए बच्चे का चित्र किसी को नहीं रुलाता। बड़े बड़े महलधारियों के यहां दीवारों पर एक निर्जन वन, एक टूटी झोपड़ी, एक खण्डहर के चित्र मिलेंगे जहां वह एक दिन भी नहीं रह सकता। एक फटा पुराना मैला कपड़ा पहिने, हाथ में हुक्का लिये एक वस्र दिहाती को शहर का सेठ 'दूर, वहां बैठ' कहेगा परन्तु उसका चित्र सम्भवतः वह अपने स्थान से ऊँचे पर ही रखता है। कलाकार सम्पूर्ण विश्व में सुन्दरता देखता है। यही कारण है कि उसकी उत्पत्ति की हुई कला में—चाहे वह काव्य हो या चित्र, मूर्ति हो या संगीत—सुन्दरता ही दिखाई देती है।

आइये, अब कलाकार की दृष्टि लेकर संसार की यात्रा करें। संसार में बहुधा दो प्रकार के मनुष्य देखे जाते हैं। एक तो ऐसे हैं जो करोड़पति होते हुए भी दुःखी हैं और दूसरे वे हैं जो फ़कीर होते हुए भी सुखी हैं। तात्पर्य यह नहीं है कि रुपये में दुःख है और निर्धनता में सुख है। प्रश्न है कलाकार की दृष्टि का। एक मनुष्य सूखी रोटी भी बड़ी चाव से खाता है, दूसरे के लिये मालपुवा में भी कुछ स्वाद की कमी है। असली मालपुवा तो कलाकार की दृष्टि है। मेरे सामने एक चिलबिल का वृक्ष है। पतझड़ में जब वह दिगम्बर हो जाता है या पीतवर्ण के कपड़े पहन लेता है उस समय भी उसमें एक सुन्दरता रहती है। आज कल वह हरा-भरा है, बड़ा सुन्दर माळूम देता है। सुन्दरता भिन्न भिन्न हैं, स्वाद भिन्न भिन्न हैं। यदि मिठास में एक सुन्दरता है तो आँसू ले आने वाली कड़वाहट में एक दूसरा ही स्वाद है। अमीरी और निर्धनता दोनों ही सुन्दर हैं,—परन्तु किसके लिये? जिसकी दृष्टि कलाकार की दृष्टि है। अन्यथा दोनों में ही क्लेश है। आज भारत के बड़े बड़े नेता जेल में वही मान प्राप्त कर रहे हैं जो किसी समय ऋषि-मुनियों को प्राप्त था। क्रान्तिकारी कृष्ण की, विप्लव के मध्य में बंशी की धुनि, भारत के भार से दबे हुए महात्मा गांधी की सतत मुसकान कलाकार की दृष्टि के द्योतक हैं। वर्धा में उनकी कच्ची कुटिया, उनके शरीर पर वस्त्र का एक साधारण टुकड़ा—इनके सामने ऊंचे ऊंचे संगमरमर के बने हुए प्रासादों की अथवा ड्राइंग रूम में पड़े हुए कोचों की क्या हस्ती है? इसका एक कारण यह है कि गांधी जी की दृष्टि एक कलाकार की दृष्टि है। अतः उनके अंग अंग से सुन्दरता

सका पुनः विकास आरम्भ हो। 'कार्य' शुद्ध करने की कसौटी है। इससे आन्तरिक तथा बाह्य दोनों शुद्धि प्राप्त होती हैं। यह स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि करता है। यह उच्च कोटि का परोपकार है, उत्तम कोटि की पूजा है, उत्कृष्ट प्रकार का यज्ञ है, जो वातावरण को शुद्ध कर देता है। काम करने के पश्चात् जो आनन्द प्राप्त होता है वह एक कामकाजी ही जानता है। दिन भर काम करने के पश्चात् चने की मोटी रोटी और नमक में जो स्वाद मिलता है वह दिन भर चारपाई तोड़ने वाला पूड़ी और कचौड़ी में नहीं प्राप्त कर सकता। घोर परिश्रम के बाद रात्रि में एक फटी कमली पर जो निद्रा आती है वह मसनद-तकिया सेवी के लिये स्वप्न मात्र है। कामकाजी मानसिक व्यथा से अनभिज्ञ रहता है, उसको इतना समय कहाँ जो मन को अपनी कथा सुना सके। वह अकर्मण्य लोगों की तरह दूसरों के दुःखों को सुनकर सो जाने का यत्न नहीं करता, किन्तु पिपीलिका के समान समुद्र सुखा देने की सामर्थ रखता है। जहां वह बैठ जाता है, सूर्य निकल आता है, दुःखी जनों के हृदय में छाये हुए दुःख के घने बादल तितर बितर होने लगते हैं और आकाश स्वच्छ हो जाता है। वह अदला संसार का पति है। वह इस बात में विश्वास नहीं करता कि (What cannot be cured must be endured) जिसकी औषधि नहीं उसको सहन करो। उसका सिद्धान्त है (What cannot be endured must be cured) जो असह्य है उसकी औषधि खोज निकालो। प्रथम सिद्धान्त आलस्य है, दूसरा मनुष्यता है। भारत में, जो सदियों से दासता की बेड़ी में जकड़ा चला आ रहा है, वही महात्मा कहलाता है जो हाथ पर हाथ रखे बैठा रहता है, अकर्मण्य है, अजगर के समान एक ही स्थान पर पड़ा रहता है। एक वस्तु यहां पड़ी हुई है तो दूसरी वहां, वस्त्र मैला हो गया है, तो क्या? तन ही तो ढकना है। हम नित्य प्रति के जीवन में जब किसी ऐसे साथी को देखते हैं तो कहते हैं—अरे उसको क्या, मस्त महात्मा है। महात्मा शब्द की इससे अच्छी परिभाषा दास भारत और क्या कर सकता था?

कलाकार की दृष्टि खाद है, कार्य पौधा है। दोनों एक दूसरे के बिना निरर्थक हैं। खाद के बिना पौधे की वृद्धि नहीं हो सकती। पौधे के बिना खाद दुर्गन्ध मात्र है। जब दोनों का सहयोग होता है तो सुन्दर सुगन्धित पुष्प, सुन्दर स्वादिष्ट फल प्राप्त होते हैं।

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

[गीता]—कलाकार की दृष्टि

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

[गीता]—परिश्रम

"The world is a looking glass and gives back to every man the reflection of his own face"—कलाकार की दृष्टि

"Labour is the law; he who spurns it will have it as a punishment"—परिश्रम

सब को जीतने के लिए हमें सब का त्याग करना होगा।

—स्वामी राम

स्वामी रामतीर्थ के संस्मरण

[ले०—पं० राम नारायण मिश्र]

सत्सङ्ग के कुछ क्षण

बहुत दिनों की बात है "मैं उन दिनों बनारस में डिप्टी इन्सपेक्टर था" दौरे से आकर सुना कि आज सायंकाल स्वामी रामतीर्थ जी का नागरी-प्रचारिणी-सभा में लेक्चर है। उनका शुभ नाम सुना करता था इसलिए उनके दर्शन करने की प्रबल इच्छा थी। मैं सभा में पहुँचा। स्वामी जी पहले ही से वहाँ बैठे हुए बड़े गम्भीर स्वर से 'ॐ' का उच्चारण कर रहे थे। उच्चारण क्या था, प्रवाह था जिसमें सुनने वाले नहा कर अपने को पवित्र समझने लगते थे। यह प्रवाह धीमा था पर रुकता नहीं था। चेहरे पर ज्योति थी। मैं एक कोने में जाकर बैठ गया। व्याख्यान के सूचना-पत्र में छपा था कि राजा मुंशी माधवलाल सभापति का आसन ग्रहण करेंगे। समय आ गया पर राजा साहब नहीं पधारे। ठीक समय पर स्वामी जी खड़े हो गये और व्याख्यान देने लगे। किसी ने कहा कि महाराज सभापति जी अभी आ रहे हैं। स्वामी जी अपने को "राम" कहा करते थे। उन्होंने उत्तर दिया "राम तो काल के वश में है," "राम तो काल के प्रवाह में बहा जाता है" इत्यादि कहते हुए उन्होंने अपना उपदेश जारी रखा। कुछ देर के बाद राजा साहब आए और सभापति की कुर्सी पर बैठ गए। उन दिनों कोई भी सभा सोसायटी काशी में निश्चित समय पर नहीं हुआ करती थी। एक घण्टा देर होना तो साधारण सी बात थी। इसलिये सभापति जी का देर करके आना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी परन्तु स्वामी जी समय की पाबन्दी के लिए प्रसिद्ध थे। उस दिन के व्याख्यान का अद्भुत प्रभाव पड़ा। लोगों ने आग्रह किया कि स्वामी जी काशी में दो तीन दिन और ठहर जाएँ। स्वामी जी मान गए।

दूसरे दिन सवेरे मैं जब अपने घर जो उस समय मोहल्ला ब्रह्मनाल में था लौट रहा था मुझे एक सज्जन रास्ते में मिले और कहने लगे कि स्वामी जी कुछ अस्वस्थ्य हैं। यह सज्जन एम० ए० थे। नौजवान थे। सरकारी पदाधिकारी रह चुके थे पर स्वामी जी की भक्ति के कारण नौकरी छोड़ बैठे थे और उन्हीं के साथ रहते थे। उनसे मालूम हुआ कि लखनऊ के मुंशी गङ्गा प्रसाद ने, जो उस समय एक प्रसिद्ध देशभक्त थे, राजा माधवलाल को पत्र लिख दिया था कि स्वामी जी का अतिथि-सत्कार करें। राजा साहब ने स्वामी जी को सेन्धिया घाट के ऊपर एक धर्मशाला में ठहरा दिया था जहाँ अन्न-क्षेत्र भी था। वहाँ भोजन का प्रबन्ध ठीक नहीं था। चावल मिलता था, रोटी नहीं। स्वामी जी से मैं वहाँ मिलने गया। मुझे बतला दिया गया था कि उनसे यह न कहना कि सुना है, आप बीमार हैं। वे अपने शारीरिक कष्ट को किसी पर प्रकट नहीं करते थे। गङ्गा किनारे से बहुत सी सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वहाँ पहुँचे जहाँ स्वामी जी थे पर उनके 'ॐ' की ध्वनि नीचे तक सुनाई दे गई। जब मैं ऊपर गया, तो लेटे हुए थे। मेरे जाने पर उठ गए। मैंने नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की कि वे मेरे यहाँ भोजन करें। उन्होंने प्रार्थना स्वीकार की। मैंने पूछा कि आपको भोजन का कौन सा पदार्थ प्रिय है। उन्होंने कहा कि भोज्य पदार्थ कोई भी मुझे अप्रिय नहीं। तब मैंने जान बूझ कर कहा कि पञ्जाबी हूँ। बोले मेरा "शरीर" भी पञ्जाबी है, उसे चावल की अपेक्षा रोटी खाने की आदत है।

वे कृपा पूर्वक दो एक साथियों के साथ मेरे घर पधारे। उस समय कमरे में दो एक बच्चे खेल रहे

भक्ति-रहस्य

[ले०—श्री रामनन्दन सहाय 'ब्रह्मविद्या'—फैज़ाबाद]

वास्तव में परमात्मा निर्गुण है। इसलिये वह जीवों की किसी भी आधार शक्तियों का विषय नहीं है। वह न आँखों से देखा जा सकता है, न कानों से उसकी वाणी सुनी जा सकती है। न वह वाणी का, न मन का, न बुद्धि का विषय है। तब किस शक्ति की सहायता से वह प्राप्त हो सकता है? मैं भी तो परिमित हूँ फिर अपरिमित को पाने का किस प्रकार अधिकारी हो सकता हूँ। वाणी, मन, बुद्धि सभी परिमित होने से परिमित जीव कैसे अपरिमित का ध्यान कर सकता है? जब तक अहंत्व का भाव बना रहेगा तब तक परिमितता छूट नहीं सकती है। और यदि अहंत्व का लय हो जायगा तो कौन ब्रह्मानन्द को प्राप्त होगा? फिर उपासक भक्त भगवान का दर्शन कैसे कर सकता है, यदि भक्त भगवान में लीन हो जाय? और जब तक भक्त भगवान में लीन नहीं होगा तब तक ब्रह्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है?

जीव का जीवत्व भी तभी तक है जब तक अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का धर्म बना रहता है। नहीं तो अन्तःकरण के धर्म चाहे ब्रह्म में लीन होने से अथवा बेहोशी सुंघाने से जब विलीन हो जाते हैं तब जीव को सुख-दुःख का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव मन लीन हो जाने से आँख के रहते हुये भी जीव देख नहीं सकता है, न कान रहते हुए सुन सकता है। इसका [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

है जिस प्रकार जल का बिन्दु समुद्र में लीन होने पर नाम-रूप छोड़ कर पूर्ण कलेवर समुद्र ही हो जाता है। उसका बिन्दुत्व नहीं रहने पाता है। समुद्र में मिलते ही उसके आवरण-विक्षेप दोनों दूर हो जाते हैं और वह बिन्दु एकरस एक सत्ता समुद्र स्वयं हो जाता है। उस बिन्दु का जल नष्ट नहीं होता है, प्रत्युत अणु अणु होकर समुद्र का व्यापकरूप धारण कर लेता है। उसी प्रकार जीव ब्रह्म में लीन होकर एकरस एकरूप धारण करता है। उसका अहंकार ही व्यापक होकर विराट सत्ता को धारण करता है जिससे वह [illegible] को जानता हुआ सर्वज्ञता को प्राप्त होता है। जिस प्रकार घटाकाश आवरण और विक्षेपरूप घट [illegible] के नष्ट होने पर महाकाश ही रह जाता है। [illegible] तालाब में ढेला फेंकने पर पहिले वहाँ केन्द्र बन जाता है और तदनन्तर वह केन्द्र (centre) वृत्त (circumference) में परिणत होकर क्रमशः प्रवाहित होता और बढ़ता हुआ तालाब के किनारे तक धक्का खाकर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार [illegible] आत्मा एकरस होने पर भी प्रत्येक परमाणु में [illegible] जमान है पर मृत्यु से धक्का खाकर यह [illegible] अहङ्कार रूप हो आवरण के नष्ट हो जाने पर [illegible] से परिधि (Circumference) बन कर [illegible] बढ़ता हुआ संसाररूप विराट् परिधि में स्वयं [illegible] विलीन हो जाता है। जैसे बीज वृक्ष [illegible] अपनी पूर्वरूप सत्ता को लय कर देता है उसी प्रकार [illegible] सत्ता को लय कर सर्वज्ञ ब्रह्म [illegible] है।

[illegible]

परमात्मा है। 'अहं' नष्ट नहीं होता है। यह 'अहं' चाहे अपने कर्मों का फल भोगता है अथवा कर्मयोग रूप सन्यास से व्यापकता का अनुभव करता है। परन्तु विषयी परिमित अल्पज्ञ जीव निर्विषय, अपरिमित, सर्वज्ञ का दर्शन किस प्रकार कर सकता है? दर्शन निर्गुण परमात्मा का नहीं हो सकता है, सगुन का ही होता है। उसी में प्रेम, भक्ति, श्रद्धा आदि का सञ्चार हो सकता है। परमात्मा मन बुद्धि आदि का विषय न होने पर भी सगुन रूप से भक्तों की वाणी, उनका मनोभाव सुन जान लेता है और व्यापक होकर भी भक्ति से अपने परिमित सगुन 'अहं' भाव को प्रकट कर दर्शन देता है। इसी लिये वेदों ने जिस निर्गुण परमात्मा का वर्णन किया है उसी को सगुन भी कहा है। मोक्ष अवस्था में प्रकृति यद्यपि ब्रह्म में लीन रहती है पर उसकी सत्ता का नाश सर्वथा नहीं हो सकता है। तभी सृष्टि काल में प्रकृति अपने में ब्रह्म को लीन कर जगत् की रचना करती है। अतएव जो जीव निर्गुण उपासना से मन, इन्द्रियों का विषय नहीं होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है वही सगुन उपासना से मन इन्द्रियों के द्वारा अपने इष्ट देवता को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। वह परमात्मा, मन, इन्द्रियों का विषय न होने पर भी भक्तों की अव्यभिचारिणी भक्ति से प्रकट हो सकता है। वास्तव में मन, इन्द्रियों को छोड़कर और हमारे पास है ही क्या जिनसे हम परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। ज्ञान तो जीव की बुद्धि का ही पर्याय शब्द है जो ब्रह्म के विचार से प्रकट होता है। अतः इन्द्रियगम्य भगवान् का भजन ही श्रेष्ठ है जिसके दर्शन से तन्मयता के कारण अन्तःकरण का धर्म लीन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे निर्गुण या सगुन कोई उपासना हो प्रथम इन्द्रिय, मन के द्वारा ही भगवान से प्रीति होती है फिर तल्लीनता से मन इन्द्रियों के कार्य उपास्य में समाधिस्थ हो जाने के कारण छिन्न हो जाते हैं। जब मन समाधिस्थ हो इष्ट देवता का रूप धारण कर लेता है तो दूसरा मन कहाँ से आवे जो इष्ट देवता का दर्शन करे। अतएव उस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों मिलकर एक हो जाते हैं।

जीव ज्यों ही पृथ्वी पर उत्पन्न होता है त्यों ही उसकी इन्द्रियाँ विषयों पर प्रवृत्त होने लगती हैं। यह स्वाभाविकी प्रवृत्ति निरन्तर अभ्यस्त होकर दृढ़ होती चली जाती है। यही कारण है कि किसी आत्मीय के मरने पर दुःख असह्य हो जाता है। दिन रात विषयों में मन के लगे रहने से मन विषयाकार बना रहता है। उससे छुटकारा पाने का अवकाश कभी नहीं मिलता है क्योंकि बुद्धि के निरन्तर विषयाकार बने रहने से संसार का स्फुरण सत्य समझ पड़ता है। निराकार परमात्मा के ध्यान करते ही विषयी मन निर्विषय न होकर और भी अधिक चञ्चल हो जाता है। क्योंकि मन के साथ इन्द्रिय विषय के रुक जाने से और निर्गुण तत्व में उसके लय हो जाने के भय से चञ्चलता का बढ़ना स्वाभाविक ही है। स्वयं स्वेच्छापूर्वक कोई मरना नहीं चाहता है; जब तक कि विश्वास न हो कि मैं अमर हूँ, शरीर ही नश्वर है। वेद, शास्त्र, गुरुजनों के उपदेश से भी प्रत्यक्ष अनुभव के बिना मन मानता नहीं है। मन का निर्विषय होना ही मृत्यु के तुल्य है। सगुन-रूप में मन मारने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें तो दिव्यरूप का ध्यान कर मन आनन्द हो जाता है और माता, पिता, मित्र आदि के सगुनभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति के होने के कारण निरन्तर आठों पहर चिन्तन होने लगता है। भक्त की आँखें भगवान् के रूप देखने के लिये लालायित रहती हैं। उनके जीवन चरित सुनने की उत्कंठा बनी रहती है। इस प्रकार धीरे धीरे जब गाढ़ भक्ति हो जाती है तो मन भी निर्गुण ब्रह्म के समान सगुन भगवान में लीन होकर निर्विषय हो जाता है। यही समाधि है जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों मिलकर एक

हो जाते हैं। तब ब्रह्म निर्गुण और सगुणभाव से विलक्षण ज्ञात होता है।

निर्गुण ब्रह्म की उपासना से निश्चय संसार के जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्ति होती है। निराकार में कोई कल्पना हो नहीं सकती है। इस लिये मन को निर्विषय बनाना पड़ता है और बाहर जड़ के समान, मान-अपमान से रहित, अहंकार शून्य, अतीन्द्रिय अपने को अनुभव करना पड़ता है। ध्यान भी आकाश के सदृश शून्य, नाम-रूप से रहित अस्ति-भाति और प्रियरूप से होना चाहिये जिससे सत्, चित् और आनन्द का अनुभव हो। यदि कोई कहे कि गृहस्थ इस भाव को कैसे प्राप्त हो सकता है? अतीन्द्रिय होने पर गृहस्थ का कार्य कैसे पालन हो सकता है? तो इसका उत्तर यही है कि वह निष्काम कर्म से इन्द्रियों को वश में कर सकता है और निष्काम कर्म तभी हो सकता है जब कि साधक कर्तव्य को भली भाँति जानता हो जिसमें स्वार्थ का गन्धमात्र भी न हो और आत्मपरिचय के लिये सब के साथ हृदय से मिले क्योंकि हृदय में ही आत्मा का परिचय मिलता है, हृदय से पृथक् नहीं। यदि कोई प्रेम से न मिले तो इसमें अपनी कोई हानि नहीं है, ऐसे पुरुषों से उदासीन ही रहना चाहिये। किसी की अशुभ कामना नहीं करनी चाहिये क्योंकि द्वैतभाव को सब ओर से मिटाना है। आप ही स्वयं भिन्न भाव से भिन्न देख पड़ते हैं। स्वप्न के तुल्य आप ही का कर्म इस संसार को रचकर शत्रु, मित्र, स्वामी, दास, पिता, पुत्र यथा सम्बन्ध बनाकर आप को अपना कष्ट भोगता रहता है, इसलिये निष्काम कर्म करना परम आवश्यक है। ये बात [illegible] का जानना [illegible] विज्ञान के [illegible] बात है कि गृहस्थ से उत्पन्न हुआ मनुष्य जब सन्यस्त हो जाता है तो उसके बाप बेटा कहाँ! अतएव वे शिक्षक होकर सबके गुरु बन जाते हैं और अपने को सदैव मुक्त मानते हैं; यद्यपि ऐसे जितेन्द्रिय कलि के प्रभाव से विरले ही मिलेंगे। यह बात तभी समझ पड़ेगी जब गुरु धन के लोभ से और शिष्य सिद्धि के लोभ से परस्पर सम्बन्ध न रखते हों, प्रत्युत निरन्तर तैल धारावत् आत्मचिन्तन में लगते लगाते हों।

'अहं ब्रह्मास्मि'—का अर्थ 'शरीर धारी मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं है। वरन् शरीरधारी मैं बिन्दु के समान ब्रह्म सागर में लीन होकर शरीर और शरीर सम्बन्धी इन्द्रियों से रहित अपने को व्यापक सागर के समान ब्रह्म ही अनुभव करने लगता है। इसमें 'अहं' की पृथक् सत्ता नहीं रहने पाती है। परन्तु इस तत्त्व के जानने से योगारूढ़ रहना ही श्रेष्ठ है।

उपासना यथार्थ में निर्गुण से सगुण ही श्रेष्ठ है क्योंकि इससे केवल मुक्ति ही नहीं मिलती है, वरन संसार में जब तक भक्त जीवित रहता है धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों का साधन करता है और शरीर छोड़ने पर निर्विषय निर्विकल्प भी हो जाता है क्योंकि सगुण ब्रह्म का सम्बन्ध शरीर तक साथ रहता है, तथापि सगुण ब्रह्म के नित्य मानने वाले भक्त शरीर त्याग के अनन्तर सगुण ब्रह्म ही को प्राप्त होते हैं। एक ही निर्गुण आत्मा प्रकृति के नित्य संग से नित्य सगुण कहलाता है जिससे संसार का अनादित्व और अनन्तत्व बना रहता है। इसी लिये आत्मा एक होने पर भी प्रकृति के अनन्त धर्म होने के कारण एक अद्वितीय अभिन्न होने पर भी प्रत्येक रूप में भिन्न भिन्न भासित होने से अनन्त बोध होता है। अतः [illegible] मोक्ष इन चारों पदार्थों को प्र[illegible] सगुण उपासना ही श्रेष्ठ है। इस [illegible] मिलता है। [illegible] देखने [illegible] होना है। [illegible] मानना चाहता है। मु-

बोलना चाहता है। अतएव सब इन्द्रियों के सोते रहते हुये उस ब्रह्म सागर में नाम रूप लय पर मिल ही जाते हैं। नेत्र को सब ओर से बन्द करने की अपेक्षा सगुण ब्रह्म का दर्शन कराना, कान में टेपी लगाने से उसके जीवन चरित को सुनकर उसमें लीन रहना कितना सरल कार्य है। इन्द्रियों को रोकने से इनको दिव्य विषय में लगाना कहीं अच्छा और सुलभ है। इस विधि से गृहस्थी में भी ब्रह्मानन्द प्राप्त हो सकता है।

आत्मा एक स्फटिक मणि के समान है जिसके पास लाल फूल रखने से स्वयं स्फटिक मणि लाल भासित होने लगती है, पीला फूल रखने से मणि स्वयं पीले रंग की मालूम होने लगती है। इसी प्रकार जिस रंग का फूल रखिये वह पत्थर उसी रंग का जान पड़ता है। पर वास्तव में स्वयं रंग रहित निर्विकार है। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि निराकार है परन्तु भक्तों के मानस पट पर आत्मा का अद्भुत चेतन चित्र चित्रित हो जाता है।

भक्तों की भिन्न भिन्न अनन्त प्रवृत्तियाँ हैं। इसलिये उपासना में इष्ट देवता भी अनन्त हो सकते हैं। जैसे जो तामसिक प्रकृति के हैं उनके लिये शिव-शक्ति की उपासना आशुफल-प्रद है। जो रजोगुणी हैं वे ब्रह्मा सरस्वती की उपासना कर शीघ्र कृतकृत्य हो सकते हैं और जो सात्विक प्रकृति के हैं वे विष्णु भगवान का पूजन कर शीघ्र आनन्द लाभ कर सकते हैं। उसी प्रकार अनार्य संस्कृति के मनुष्य हजरत मुहम्मद तथा जीसस क्राइष्ट की उपासना से तृप्त हो सकते हैं। उपासना के प्रारम्भ में खान पान का भेद भाव रहने पर भी भक्तों को भक्ति में बाधा नहीं पड़ता है और धीरे धीरे सात्विक वृत्ति प्रकट होने लगता है जिससे निषिद्ध भोजन तथा अपवित्र आचरण सर्वथा सुधर जाते हैं। जैसे तामसिक उपासक मांस मदिरा के प्रयोग करने वाले जब सच्ची भक्ति से माता की उपासना करेंगे तो सत्त्व अवस्था के होते होते मांस मदिरा सभी तामसिक खान स्वभावतः छूट जायेंगे और तत्पश्चात भक्ति से सात्विक वृत्ति को धारण करने लगेंगे। तभी देवी का दर्शन होगा। जो वस्तु मन से त्यागी जाती है वही त्याग यथार्थ है। तामसों के जो खान हैं वे स्वाभाविक होने से सहसा छूट नहीं सकते हैं। वे कुछ दिन के बाद उपासना से आत्म ज्ञान प्राप्त होने पर आपही सात्विक वृत्ति में परिणत हो जाते हैं। इसीसे प्रत्येक देवता की उपासना के साथ साथ आत्म ज्ञान की शिक्षा भी सन्निहित रहती है जिससे अन्त में भक्त आत्मा को सकल पदार्थों में अनुभव करने लगता है। जब द्वैत भाव नष्ट हो जाने पर आत्मा ही एक अद्वितीय रह जाता है तब फिर हिंसा कैसे हो सकती है। जब तक मन उपासना में दृढ़ नहीं होता है तभी तक इन्द्रियाँ चञ्चल रहती हैं और सांसारिक विषयों में प्रवृत्त होती हैं। अतः जैसे जैसे मन इष्ट देवता में स्थिर होता जाता है वैसे वैसे इष्ट देवता प्रत्येक वस्तु में भासने लगता है। अन्त में वही इष्ट देवता सर्वत्र आत्मरूप अनुभूत होने लगता है।

भक्तों को इष्ट देवता के भजन करने में लेशमात्र भी अभिमान नहीं होना चाहिये, न मनोराज्य का विस्तार करना चाहिये। ईश्वर के भजन से मैं राजा होऊँगा, राजा महाराजा मेरा सम्मान करेंगे, मैं जो कहूँगा वही हो जायगा, मैं अप्सराओं के साथ भोग करूँगा, मेरा जो अपमान करेगा वह तत्क्षण दुःख भोगने लगेगा, दुनियाँ में मेरी सर्वत्र प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा होगी, इन सब मनोभावनाओं को सर्वथा त्याग देना होगा, क्योंकि ये सब साधन के बाधक हैं। यदि लेशमात्र भी मन सांसारिक विषयों में लगा रहेगा तो उस आसक्ति के कारण सिद्धि नहीं मिलेगी। मन को पूर्ण निर्विषय कर इष्ट देवता में निमग्न हो जाना पड़ेगा तभी सच्चा आनन्द मिलेगा। नहीं तो ईश्वर के भजन के साथ साथ मन रूपी तुरग के दौड़ाने में न भजन ठीक होगा, न मन ईश्वर में लीन होगा।

इस संसार को स्वप्न के तुल्य असार समझना पड़ेगा। इसके किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यह अविद्या का घर है। यदि भजन करते हुए कुछ सिद्धियाँ अनुभूत होने लगें तो उनमें फँसना कभी नहीं चाहिये। अपना सीधा मार्ग परमात्मा के दर्शन का अनुसरण करना चाहिये। यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि जब तक इष्ट देवता का दर्शन न हो तब तक कोई मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। अतः मनोरथ ही नहीं करे। भजन के अवसर में बहुत अच्छे अच्छे अनुभव होंगे परन्तु उससे ज्ञान का अभिमान न होने पावे, नहीं तो सब ज्ञान नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। इस शरीर का अभिमान किसी प्रकार नहीं करना चाहिये क्योंकि यह शरीर काल के आधीन होने से दिन दिन क्षीण होता जायगा, अमर कभी नहीं हो सकता है। यदि ब्राह्मण हो तो जाति अभिमान न होने पावे और यदि चांडाल हो तो अपने को नीच, पतित या अपमानित कभी न समझे। अपने इष्ट देवता को सबसे बड़ा जानकर भी दूसरे के इष्ट देवता को छोटा नहीं समझना चाहिये क्योंकि सब का इष्ट देवता एक ही है, जो अज्ञानता से भिन्न भिन्न जान पड़ता है। अपने राम के सम्मुख कृष्ण को दूसरा नहीं समझना चाहिये परन्तु भावना कृष्ण में भी राम की ही करना चाहिये जैसे गोस्वामी तुलसीदासजी ने वृन्दावन में श्री कृष्ण का दर्शन रामरूप में किया था। जीसस् क्राइष्ट या हजरत मुहम्मद भी ईश्वर के पथप्रदर्शक थे, इसलिये इन महात्माओं का आदर हृदय से करना चाहिये। भगवान् के मार्ग में क्षुद्र चींटी भी सहायक हो जाती है यदि वह भी आत्म-दृष्टि से देखी जाय। परमात्मा सर्वत्र सब रूपों मे विराजमान है। वह [illegible] मे ही देख पड़ता है और सर्वत्र सब रूपों [illegible] भक्तों की रक्षा करता है। अज्ञानता से मैं जिसको दूसरा समझता हूँ वह मुझको भी दूसरा समझने लगता है। जैसे एक ही मन स्वप्न मे शत्रु मित्र [illegible] [illegible] रच लेता है और सुख [illegible] अनुभव करने लगता है इसी प्रकार मनोवृत्ति के अनुसार स्थूल इस संसार में लोगों को अपना पराया दिखता है, नहीं तो परमात्मा की सृष्टि में कोई अपना पराया नहीं है। सब आप ही आप है। सारे इस सिद्धान्त को [illegible] न समझने पर आत्मज्ञानी भक्त का यही [illegible] आचार है। इसीलिये आत्मज्ञानी भक्त पर [illegible] का प्रहार भी पुष्पमाला के समान कोमल हो [illegible] है। सिंह, हाथी, व्याघ्र, सर्प सभी हिंसक [illegible] मित्र के समान आचरण करने लगते हैं। इस पर प्रहार करने वाले का सिर आप ही आप कट जाता है और हिंसा करने वाले स्वयं दुःख भोगने लगते हैं क्योंकि आत्मज्ञानी भी अपने को सब में अनुभव करता है, इसलिये उसके दुःखी होने पर उसका दुःख देखनेवाले में अनुभूत होने लगता है।

वेदों की 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' यथार्थ् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है—यह उक्ति यथार्थ सत्य है परन्तु यह आत्मज्ञान वैराग्य के साथ भक्ति के द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है। आत्मा का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है परन्तु परिमित मन बुद्धि की सहायता से ही यह प्राप्त कर सकता है। श्रुति और मुनि जन गायत्री भी बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करने की सम्मति देती है। वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहासों के समस्त विषय बुद्धिगम्य हैं। अतः बुद्धि ही व्यापक रूप में ज्ञान है। इतना कहना पर्याप्त नहीं है क्योंकि बुद्धि विषयगम्य है और ज्ञान निर्विषय है। इसलिये भक्ति इतनी विलक्षण है कि इन्द्रियगम्य भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं यद्यपि इन्द्रियातीत हैं। अतः मूर्ख भी भक्ति के द्वारा उस तत्त्व को जान लेते जिसको बड़े बड़े विद्वान वेदों से पाते हैं। इसी [illegible] महात्मा कबीरदास जी आदि अनेक सन्त हो गये जो बिना पढ़े लिखे ही उस पद को प्राप्त कर चुके जहाँ बड़े बड़े विद्वान अनुगामी हो जाते हैं। भ[क्ति] की तत्परता ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

अतएव तन्मय, तद्रूप बनाने की शक्ति भक्ति में ही है। ज्ञान तो संकेत कर आत्मा को सूचित करता है और केवल मात्र जना देता है कि वह ब्रह्म तू ही है। परन्तु भक्ति भक्त को दृढ़ता प्रदान करती हुई साक्षात् आत्मरूप ही बना देती है। इसीसे भक्ति को परा-विद्या कहते हैं। अतः यही स्वयं ब्रह्मविद्या है।

जो मनुष्य ईश्वर-भक्ति के बिना ही स्वावलम्बन करता है अर्थात् दूसरों की उपेक्षा करता है वह महा मूर्ख है। क्योंकि वह नश्वर शरीर के आश्रित रहने से अविनश्वर होकर भी शरीर कल्पना से नश्वर, क्षण-भंगुर हो जाता है और संसार में कभी सुख नहीं पाता है। भक्ति के द्वारा कोई किसी सम्प्रदाय का भी भक्त क्यों न हो उसके स्पर्शमात्र अथवा दर्शन द्वारा महान् असाध्य रोग नष्ट हो जाते हैं और कभी कभी मृतक भी उसकी सुधादृष्टि से जी उठते हैं। प्रकृति उसके अनुकूल व्यवहार करने लगती है। उसकी बात मुख से निकलते ही फलने लगती है। वह कल्प वृक्ष हो जाता है। वह करोड़ों जीवों का उद्धार करता है। इसीसे उसकी बात सर्वमान्य हो जाती है, क्योंकि उससे किसी को कोई हानि नहीं पहुँचने पाती है। उत्तरोत्तर लाभ ही देख पड़ता है। उससे संसार का सुधार ही होता है और उसको सब सम्प्रदाय के लोग अपनाने लगते हैं। भक्तों के आशीर्वाद से सभी सांसारिक पदार्थ करामलकवत् हो जाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, जो कार्य भगवान् नहीं कर सकते हैं उनको भक्त अनायास ही कर दिखाता है अर्थात् कर्मरेखा मेट कर चिरञ्जीवी और सौभाग्यशाली बना देता है। ऐसा भक्त स्वभावतः अपने लिये कुछ नहीं करता है, क्योंकि वह परमात्मा के प्रेम में निरन्तर निरत रहता है और अपने को पूर्ण रीति से भगवान की शरण में समझता है। भक्त के प्राण जीवन सर्वस्व स्वयं भगवान ही हो जाते हैं। भक्त मुक्ति चाहता ही नहीं है। वह सदैव नित्य सेवक का पुजारी बन जाता है और एक क्षण भी भगवान को नहीं बिसारता है। जीव जब किसी पर आसक्त हो जाता है तो उसको बिना प्राप्त किये भोजन पान भी अच्छा नहीं लगता है। भूख प्यास तीव्र होने पर भी, मूर्च्छा खाने पर भी भक्त की प्रीति भगवान् में दृढ़ बनी रहती है। उसका चित्त इन दशाओं में भी विचलित नहीं होता है, क्योंकि वह पहिले ही अपने को आत्मसमर्पण किये रहता है। अपने ऊपर निर्भर रहने वाले नास्तिक जीवों का वातावरण बना ही रहता है। इस लिये निरन्तर मिलने जुलने के कारण संगति दोष जो मन को विक्षिप्त करता है कभी छूटता नहीं है। अच्छी से अच्छी संगति भी इस लिये मोह का कारण बन सकती है। अतः सच्चे भक्त दूसरों के दिये हुये मान या किये हुये अपमान की उपेक्षा कर सदैव एकान्तवास करते हुये भगवान से एकान्त में बातचीत करते हैं। इस अवस्था में सत्संगति की आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्योंकि सत्संग के गुरु-घंटाल स्वयं भगवान् ही ऐसे भक्तों के साथ सत्संग करते हैं। एकान्त में ही भगवान् मिलते हैं। प्रेमा-भक्ति में भगवान् के सम्मुख नृत्य करने वाले भक्त के साथ यदि दूसरा भक्त नृत्य करने लगे तो वहाँ कभी कभी स्पर्धा दोष भी उत्पन्न हो जाता है। इसलिये अकेले ही भजन करना ऐसे भक्तों को अच्छा मालूम होता है। अतएव सत्संग के वातावरण में रहकर भी सच्चे भक्त को दिन या रात में एक बार सर्वथा एकान्त सेवन प्रति दिन करना चाहिये। जैसे कहीं नदी-तट या पर्वत में एकान्त वास कर हृदय-कमल निवासी भगवान् से निस्सन्देह बातचीत करना चाहिए अर्थात् अपने मनोभावों को प्रकट करना भक्त के लिये नितान्त प्रयोजनीय है। भगवान यद्यपि सब में विराजमान हैं परन्तु साधन अवस्था में सबको भगवान का स्वरूप समझने पर भी सबके भिन्न भिन्न आचरण और विभिन्न बुद्धि के संस्कार से मोहित होना पड़ता है। अतएव सब के अन्तःकरण जो स्वयं अपने हृदय में ही पहचानते हैं तथा सच्चा प्रेम करेंगे उस दि

अपने हृदय में अन्तर्यामी आत्माराम का साक्षात्कार हो अन्यथा सबके आत्माराम साधारण और प्राकृतिक ही जान पड़ेंगे। इसी से ध्रुव को जब तक भगवान् का साक्षात्कार न हुआ तब तक उनके पिता, विमाता और भाई सब विभिन्न देख पड़ते थे यद्यपि सब में एक ही भगवान् थे, परन्तु जब घोर अरण्य का एकान्त सेवन कर उन्होंने अपने आत्माराम का दर्शन पाया तब इन तीनों में भी भगवान् प्रेम के साथ मिलने लगे। वास्तव में बाहर का संयोग सहेतुक है परन्तु अन्तर्यामी भगवान् कारण रहित सखा हैं। उनको अपने ही में ढूँढना चाहिये और बाहर सब में अनुभव करना चाहिये।

ईश्वर में मन क्यों नहीं लगता है ? इसके कई एक कारण हैं। प्रथम तो जीव का अभीष्ट सांसारिक विषयों पर ही रहता है और ब्रह्म संसार का विषय नहीं है। स्त्री, पुत्र और धन—इन तीन इच्छाओं से मनुष्य विषयी बन जाता है और मन इन्हीं तीनों के प्रेम में बँट जाता है। इस लिये ईश्वर का भजन गोता खाता जाता है। यदि इन में से किसी का अभाव हुआ तो जीवन पर्यन्त मनुष्य ईश्वर से उसी अभाव की पूर्ति चाहने लगता है। अथवा यों कहिये कि ईश्वर की भक्ति भी सांसारिक वासनाओं की प्राप्ति के लिये ही होती है, प्रत्युत भजन करने के बदले में मनुष्य सिद्ध होने का वर मांगने लगता है। वह चाहता है कि मैं भारी महात्मा हो जाऊँ, सब मेरी पूजा करें और योगी होकर मैं आकाश में विहरूँ। हिमालय का शिखर अथवा नन्दन वन मेरे स्मरण करते ही दृष्टिगोचर हों। अप्सरायें स्वयं ही मेरे पैरों पर गिरें और वे मेरी सेवा करें। बहुत से सोचते हैं कि हम विरक्त हो गये। अतः जो हम को दण्डवत् प्रणाम नहीं करेंगे वे धर्म-पतित और नष्ट हो जायँगे। वे यह नहीं समझते हैं कि हम स्वयं धर्म-पतित हो गये हैं, इसीसे हम में वह संस्कार ही नहीं है जिससे लोग हम को दण्डवत-प्रणाम करें। बहुत से ऐसे मिलेंगे जो गुरु से 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' ... वाक्यों के सुनते ही ब्रह्म हो जाते हैं। उन्हें ... पूजा करने की भी आवश्यकता नहीं होती है। ... वे लोगों से संसार में सर्वत्र पूजनीय बनने ... आशा करते हैं। बहुतों ने वेदशास्त्र को ... कण्ठस्थ कर लिया है कि वे सभाओं में मन्त्र ... सूत्रों की झड़ी लगा देते हैं और बड़े बड़े ... बात बात में परास्त कर देते हैं, परन्तु तिस पर सांसारिक मह... अपनाने की शक्ति प्रकट नहीं होती है। ओह ! ... घोर माया है ! यह ज्ञान किस काम का है ? ... तो निरक्षर भक्त की भक्ति कोटि गुण श्रेष्ठ है। परन्तु ईश्वर की माया अनिर्वचनीय है। भक्तों में ... ज्ञानियों के सदृश ही महत्त्वाकांक्षा बन जाती है। अहा ! अभी मार्ग में ही हैं और ईश्वर तक पहुँचे भी नहीं कि स्वयं प्रथम ही पुजवाने लगे और ऐसे ... राज्य का स्वप्न देखने लगे जिसके सम्मुख ... की विभूतियाँ भी कृत्रिम जान पड़ने लगीं। ... ऐसी अवस्था में पूर्वोपार्जित भक्ति और ज्ञान ... लेशमात्र भी रह सकता है ! फिर स्वार्थियों का ... ईश्वर में कैसे हो सकता है ? स्वार्थियों के सभी ... कृत्रिम और छल युक्त होते हैं। ईश्वर उनसे ... कोस दूर रहते हैं, वे पहिले तो छल प्रपञ्च से ... मालूम होते हैं पर अन्त में आधार रहित गिर ... हैं। वे दूसरों को क्या धोखा देते हैं स्वयं अपने हाथ पैर कटवा डालते हैं। वास्तव ... झूठ बोलना, छल प्रपञ्च करना, हिंसा करना, ... प्रतिष्ठा चाहना, इन सभी बातों से अहंकार की ... ही होती है जिससे मुक्ति नहीं हो सकती। ... सच्चे भाव से परमात्मा में मन के लगाने से ही अहं... के शिथिल होने पर ही ईश्वर का प्रकाश ... होता है। अतएव तेल फुलेल लगाना, कंघी ... रेशमी वस्त्र और दिव्य अलङ्कारों का धारण ... सुन्दर पदार्थों का भोग करना, ऐश्वर्य चाहना,

प्रतिष्ठा बढ़ाना—ये सभी अहंकार की पुष्टि के साधन होते हैं। इसी लिये मरने पर भी यह अपने कर्मों से पुष्ट हुआ अहंकार छूटता नहीं है बल्कि फल भोगने के लिये जन्म लेना पड़ता है। अतएव इसी जीवन में अहंकार की उलझी हुई ग्रन्थि को सुलझाना चाहिये, तभी संसार के जन्म-मृत्यु से मुक्ति होगी। जो छल-प्रपञ्च रहित हो संसार में अनासक्त होकर ईश्वर का भजन करता है उसी का मन ईश्वर में लगता है। छल-प्रपञ्च से चाहे मन लोगों को वश में कर ले पर ईश्वर से वह लाखों कोस दूर भागता है। सच्चा मन ही जब परमात्मा में लीन होता है तब आत्म प्रकाश होता है, नहीं तो जहाँ तक शुद्ध मन पहुँचा रहता है वहीं तक चिदाभास शुद्ध चेतन अनुभूत होता है।

कपाल

[डा० रामबिहारीलाल, कलकत्ता]

गया एक दिन मैं जो गंगा के पार,
किनारे पर देखा भयानक अपार,
किसी का कपाल,
पड़ा था बिहाल।

न मस्तिष्क था, अरु न थे उसके बाल,
रुधिर था, न मज्जा, न थी उस पर खाल,
फ़क़त खोपड़ी
वहां थी पड़ी।

गड़े आँख के, आँख जिससे लड़ी,
खुला मुँह, दसन की भयानक लड़ी,
न थी जीभ पर,
जो देती खबर।

उसे इस तरह से पड़ा देख कर,
मैं भयभीत हो के गया जी में डर,
कहा सोच कर,
यही क्या है नर!

लगा सोचने पास फिर बैठ कर,
कभी होगा मुझ सा ही यह कोई नर,
यह अंजान है!
न कुछ नाम है!

कोई मर्द रावन है या राम है?
कोई नेक है या कि बदनाम है?
नहीं भेद अब,
मिटा फ़र्क़ सब।

हमेशा दिखाते हों रौबो राअब,
न भूले से भी याद आता हो रब,
कि फ़ानी है यह,
निशानी है यह।

कदाचित कि राजा कि रानी है यह?
है कंजूस यह, या कि दानी है यह?
निधन या निबल,
धनी या सबल?

हुई देह रोमांच सहसा सकल,
नजर में थी बस खोपड़ी, या अजल,
इक आवाज है,
यह क्या राज है?

इसी जिन्दगानी पर यह नाज है,
यही खोपड़ी शौक़ का साज है,
खुदा की पनाह!
अजब यह राह!

यही 'राम' क्या जिन्दगानी है? आह!
इस अंजान पर जिन्दगानी की चाह!
यह करता विचार,
चला घर को हार।

ष्ट मनुष्य में बदल जाना एक नैसर्गिक नियम
है ? कौन कह सकता है कि संसार की भावी
नीति में महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित अहिंसा का
ग एक सर्वोत्तम अस्त्र का काम न करेगा ? अभी
महात्मा गांधी ने युद्ध में संलग्न राष्ट्रों को बर्बरता
विरुद्ध अहिंसा का प्रयोग करने का परामर्श दिया था
कुछ लोग हंसे और कुछ लोगों ने उसकी उपेक्षा की।
न्तु जिनके सिर पर युद्ध के गोले बरस रहे हैं उन
के हृदय में भी, उनकी अन्तरात्मा में भी यह
च्छा, यह पुकार न हुई होगी कि यदि कहीं महात्मा
धी का प्रयोग संभव होता तो हम अनायास ही
यम-यातना से छुटकारा पा जाते। संसार के
वी युग धर्म में अहिंसा की प्रधानता होगी, वह हमें
ज्ञानिक कृत्रिमता से पीछे लौटाकर प्राकृतिक सादगी
ओर ले आयगा—यही हमारा विश्वास है। और हे
व वर्ष, तू हमें इसी नूतन आदर्श की ओर द्रुत गति
ले चल, यही हमारे हृदयकी एकान्त प्रार्थना है।

हम अपने इस लक्ष्य में अवश्यमेव सफलीभूत
ोंगे—इसमें भी हमें रंचमात्र संदेह नहीं है। स्वामी
ाम ने स्वयं कहा है—आप मेरे शब्दों को नोट कर
। एक शरीर के द्वारा अथवा अनेक शरीरों द्वारा
ाम करते हुए मैं भारतवर्ष को पुनः उसकी प्राचीन
तिष्ठा पर प्रतिष्ठित करूंगा। ऐसा कहते हुए स्वामी
ाम ने 'मैं' का इस रूप में प्रयोग नहीं किया था
जिसमें कि हम अपनी स्वार्थ-बुद्धि से करते हैं। वरन्
उन्होंने यह बात ईश्वर की, आत्मविद् की दिव्य प्रकृति,
नैसर्गिक प्रकृति का अध्ययन करके कही थी। स्थूल
सूर्य की भांति अभ्युदय और उन्नति का सूर्य भी पूर्व
से पश्चिम की ओर चक्कर लगाया करता है और वह
चक्कर लगाता हुआ पुनः भारतवर्ष पर चमकने वाला
है—यही बात स्वामी राम ने समय से पहले देख ली
थी। इतना ही नहीं; सच्चे आत्मविद् की भांति वे
अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार हमें अपने लक्ष्य की ओर
अग्रसर भी कर रहे हैं, ऐसा हमारा विश्वास है।
काम विभिन्न रूपों, विभिन्न रंगों और विभिन्न नामों
से हो रहा हो, उनमें प्रकट वैसा सादृश भी न हो,
जैसा हम देखना चाहते हैं। फिर भी सबके हृदय में
नव युग के दर्शन की इच्छा, ज्ञाततः और अज्ञाततः
प्रबल होती जा रही है—इसमें कोई संशय नहीं।
जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वही बात, वही लक्षण दृष्टि-
गोचर हो रहे हैं। यदि एक ओर कुछ मुसलमान
पाकिस्तान की योजना का प्रस्ताव करते हैं, तो दूसरी
ओर अखिल भारतवर्षीय ईसाई समाज देश की
एकता और अखण्डता पर जोर देता है। यदि एक
ओर हिन्दू स्वार्थों की रक्षा की आड़ से हिन्दू सभा
कांग्रेस से अलग रहती है, तो दूसरी ओर मुसलमानों
के विभिन्न दल कांग्रेस का सक्रिय साथ देते हैं।
यदि एक ओर देश में औद्योगिक विकास और यंत्री-
करण की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता जा रहा है, तो
दूसरी ओर खद्दर और ग्रामीण कला-कौशल के पुनु-
द्धार की चेष्टा की जा रही है। शिक्षा-क्षेत्र में यदि
एक ओर विश्वविद्यालयों द्वारा पुस्तकीय ज्ञान का
परिवर्द्धन हुआ है, तो दूसरी ओर व्यवहारात्मिक
शिक्षा का भी श्रीगणेश हो गया है। कहना न होगा
कि धीरे धीरे देश के ये सभी आन्दोलन उस महाप्रभु की
नैर्सिगक इच्छा के अनुसार उसी चिरभिलषित नव
युग, नूतन युग के अभ्युदय में सहायक हो रहे हैं
और होंगे। इसके अतिरिक्त हमें और हमारे आन्दो-
लनों को कोई गति नहीं है। प्रकृति के विरुद्ध न
कभी कोई गया है और न जा सकता है। अस्तु

आवश्यकता इस बात की है कि हम इसी नव
युग के धर्म को पहचाने और यह जाने कि हम
कहां खड़े हैं और उसकी ओर सरल से सरल रूप में
किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं। हमारा 'व्यावहारिक
वेदान्त' भी अपने इसी लक्ष्य की ओर बढ़े—इसी आशा
से हम इसके द्वितीय वर्ष में प्रवेश करते हैं और
अपने सहायकों को उनकी उदार सहायता के लिए
धन्यवाद हुए प्रार्थना करते हैं कि वे इसी प्रकार वरन्

न्तुष्ट करने के लिए भारत भर के ईसाई सुदूर क्षिण भारत के एक गाँव में ले जाकर बसा दिये यँ। पाकिस्तान की योजना पागलपन की है। ह किसी सुशृंखलित योजना में आ नहीं सकती। पराजय के समय जनता के नेताओं की पताका को चे लाने का यह एक उपाय मात्र है। इससे हिंदू ी निन्दा हो सकती है अथवा उसे कोने में आश्रय ना पड़ सकता है। पर इसके प्रचारक भी इसका म्पूर्ण अर्थ समझने में समर्थ हैं या नहीं, इसमें मुझे न्देह है। × × ×इससे कुछ विशेष स्वार्थों का ाभ हो सकता है पर सारी सम्पत्ति और जीवनो- ायों के एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में गरीब ुसलमानों की भी हानि ही होगी। इसका पूरा अर्थ समझ लेने पर मुस्लिम जनता स्वयम् ही इसका वेरोध करेगी, इसमें सन्देह नहीं। श्री जिन्ना कहते ैं कि उनके मत के बहुत से मुसलमान पाकिस्तान ार मरने को तैयार हैं। इस धमकी से कोई डर नहीं सकता। करोड़ों राष्ट्रीय विचार के ईसाई, मुस्लिम, पारसी, जैन और सिख हैं जो मातृभूमि का अंगच्छेद त होने देने के लिए परिश्रम करने और खुशी से जान देने को तैयार हैं।"

इस अवतरण में श्री रामचन्द्र राव ने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान योजना की तीव्र आलोचना की है। इससे हम अक्षरशः सहमत हैं। हम लीगी मुसल- मानों से अनुरोध करते हैं कि वे इसका निष्पक्ष भाव से मनन करें और इससे लाभ उठायें।

भारतीय विज्ञान कांग्रेस के सभापति सर दलाल के भाषण का सारांश।

युद्धजन्य स्थिति

"लड़ाई छिड़ने के बाद से भारत का निर्गम- व्यापार बहुत-कुछ घट गया है। पहले जो कच्चा माल यहाँ से देसावर जाता था उसमे देश में ही पक्का माल बनने में विज्ञान कुछ मदद कर सकता है। मिसाल के तौर पर इस तरह फाजिल बचे हुए तेल- हन से मशीन का तेल तैयार करने के बारे में खोज की जा रही है। इससे भी अधिक विषम समस्या कल-पुरजों और रासायनिक द्रव्यों जैसी चीजों की आमदनी रुक जाना है जो देश के आर्थिक जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं। हमारे आर्थिक और औद्यो- गिक जीवन के लिए जो चीजें अनिवार्य आवश्यक हैं, उनके बारे में देश का स्वावलम्बी बन जाना बहुत ही जरूरी है। विज्ञान से यहाँ हमें सबसे अधिक सहायता मिल सकती है।

आज सारे उद्योग-धन्धों की उन्नति ही नहीं, रक्षा भी विज्ञान और खोज पर ही अवलम्बित है। कल-कारखानों की पूर्ण उन्नति के बिना आज कोई राष्ट्र अपनी स्वाधीनता की रक्षा भी नहीं कर सकता। हम देख रहे हैं कि आजकल की यन्त्र-प्रधान लड़ाई में जनबल का अधिक महत्व नहीं है। असली चीजें हैं हवाई जहाज, टैंक, तोपें, जहाज और इन्हें तैयार करने वाले कारखाने। भारत अपने विनाश की जोखिम लेकर ही इनकी उपेक्षा कर सकता है। यह अब केवल आर्थिक सुव्यवस्था या भौतिक उन्नति का प्रश्न नहीं रहा, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भी भारत को अपने उद्योग-धन्धों की भरपूर उन्नति कर लेनी होगी।

भारत में उद्योगीकरण

महायुद्ध में भारत की असहाय अवस्था भी प्रकट हो गयी। डिब्बों, पटरियों आदि की कमी से उसकी रेलवे अवस्था विसंघटित हो गयी। रंग और बहुत से आवश्यक रासायनिक द्रव्यों तथा दवाओं का आना बिल्कुल बन्द-सा हो गया और कपड़ों का दाम इतना चढ़ गया कि गरीबों के लिए तन ढाँकना कठिन हो गया। [illegible] में भारत सरकार ने भारत- सचिव को लिखा था कि [illegible] अपने को उद्योगप्रधान [illegible]

Vedanta, Theoretical and Practical.

SWAMI ADWAITANANDAJI

The most important tenet of Vedanta is that the ultimate Self of man is one with the foundational consciousness which is called Brahman, the individual Self and the transcendental Self are one For proving the existence of the Self the Vedanta does not adopt any *a priori* method but appeals to the all pervading and self-evident experience of self-awareness The Vedanta holds that we have a direct knowledge of the Self. Every self-conscious being while experiencing the objective world knows himself as the percipient thereof He knows that he is entirely distinct from the known objects, subjective and objective The denial of this indubitable fact of consciousness would mean the negation of all the experiences because the very fact of knowledge presupposes the existence of the knower The question "Is there a self?" is simply meaningless The Self is the basic fact of consciousness As Swami Sankaracharya says, "None doubts can doubt the existence of the Self" If any does so, he becomes the witness of the doubt This immediate intuitive self-awareness can never be questioned

What is the nature of the Self? What are its characteristics? It is perfectly clear that it is an apprehending, comprehending, witnessing principle It is never an object, an experienced content. All that can be classified under the category of such an experience is an object, a not-self

As the Self is the Eternal Subject and the transformation of the subject [illegible] is [illegible]

[illegible]

a persistent identity. All experience of chan[illegible] the very conception of change require[illegible] prior existence of an unchanging backgro[illegible] The body and the mind cannot be the S[illegible] Both of them are continually changing [illegible] are objects of perception It is Indian [illegible] tion that the Self is different from the [illegible] and body, is unchanging and therefore Infin[illegible] It is the basic conscious being of every t[illegible] in the world of becoming that di[illegible] Indian thinkers from a vast majority [illegible] Western thinkers. This grand concept [illegible] the Self is the fundamental basis of Ind[illegible] civilization Indian polity and Indian [illegible] organization and Indian ethics are built [illegible] this central idea which forms the gov[illegible] motive of her unique civilization.

The Self, then, according to Vedanta i[illegible] persistent and unchanging identity which [illegible] tinues to exist in and through all chan[illegible] physical and is therefore immutable wi[illegible] The subject and the object, the self and not-[illegible] are diametrically opposed to each other [illegible] they can never be identified. The Self is [illegible] eternal centre of reference. It is etern[illegible] separate It stands self-distinguished, a[illegible] and immutable.

The Self and the Brahman, the ult[illegible] individual principle and the Ultimate Co[illegible] Principle are one, the Vedanta asserts. [illegible] which is persistent in identity, changeless [illegible] never be finite To be finite is to be lim[illegible] to be subject to the law of possessio[illegible] [illegible] to change and therefore to b[illegible] [illegible] Every finite thing [illegible] [illegible] something beyo[illegible]

'niversal limitation is inconcievable without ie transcending substratum of Infinity. The elf is therefore Infinite. The self and the rahman are one because they cannot be two ifinites. The knowing consciousness must anscend all that is actually known or that is apable of being known. It must be the bsolute consciousness; moreover consciousness s indivisible. All divisions are within consciousness and not of consciousness.

The Self is therefore nothing but the bsolute consciousness all pervading, pure and erfect.

How is it then that we are ignorant of the elf, our real and essential nature? Ignorance s the root cause of all our sufferings, says Vedanta. Normally our outlook is very limited. We identify ourselves with the apparent and ever changing parts of our organism—the mind and the body. The result is the sense of limitation, imperfection and this consciousness engenders discontent, dissatisfation and the ephemeral sensations of pleasure and pain. This is called *Adhyasa* in Vedanta, superimposition. We superimpose on the subject—the Self, which is Existence Absolute, Knowledge Absolute, Bliss Absolute, the attributes of the object, the not-self and vice versa on the object those of the subject. Conscious self distinction from all objects and persistent identity are the outstanding characteristics of the subject, the Self. Individual personality does not fulfil this test. It is a part of the objective. Although ordinarily we experience our unity with the limited personality we have a reflective awareness of our real and unchanging Self. Conversion of this reflective awareness into perceptive awareness is called Jnana. When this is done that is experienced as a fact of consciousness, the *Adhyasa* is removed and we know not only theoretically but directly by identity that we are the eternal subject, the supreme unchangeable, the real Infinite Self.

The Vedanta is not much concerned with the process of becoming, it is the province of science. From the philosophical standpoint the idea of succession is a delusion, pure and simple. In reality there is no succession because the self is knowledge itself. As there is no succession there is no process, in the objective world. As for example the dramatist knows the whole of the drama, every detail of it. To the audience various scenes appear in regular succession which is due to lack of knowledge of the whole drama. Even so the whole of the world-drama is the working out of a predistined idea. The Self has before its comprehensive vision, the whole of the past, present and future.

All the experiences of the waking, dream and dreamless states form the objective for the Self which is infinite and unchanging consciousness. During the waking state, the world of gross matter is the object of experience. The dream state is just like the waking state Only it is of a subtle nature The waking state has for its instrument, the gross body and the senses centred in the body. The subtle body is the medium during the dream state. During the dreamless state the gross and the subtle bodies suspend their functions and the objective is one undifferenciated continuum. There the pure consciousness, the Self functions through the pure *Buddhi*, through the *Karana Chitta* and not through the *Karya Chita*. When the psychological mechanism ceases to function, there is no differenciation for time sense also varies in the three states. The dreamless state is not the highest. It is a gate way to it. All the three states are not absolutely real because they constitute the objective. Beyond the three states is the *Turiya* State which is one of complete homogeneity. It is prior to all experience. The later is there because the former is there. The objective has a dependent and ever shifting existence and has no being of its own right.
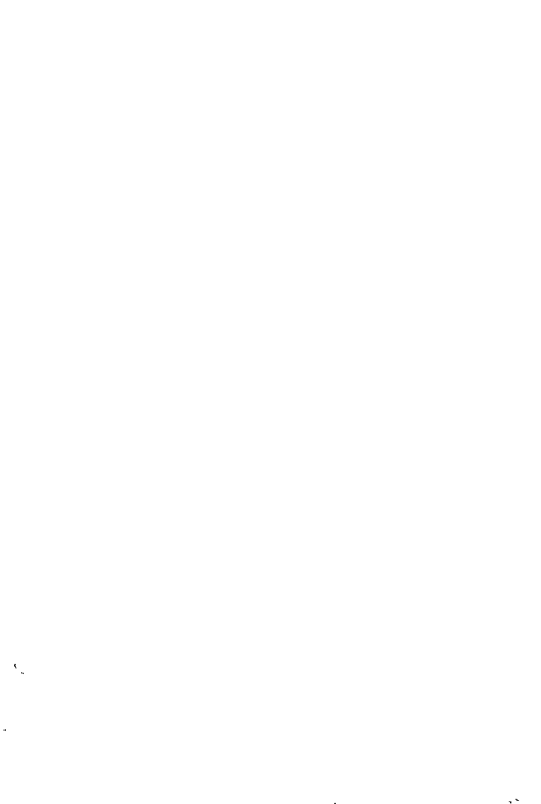
ernally pure and perfect. The goal is to alise this divinity through a synthesis of ana, *Bhakti* and *Karma* or through the lanced development of the mental faculties thought, emotion and volition. This vine state is a matter of direct experience. is not an acquisition. It is the refinding of hat we really are. This experience is beyond ason. The rational mind and the ego sense are to be transcended. Reasoning is a roping in the dark to find out the way. It is interminable circling in the round of possibilities and probablities. It can never give us e certainty of experience. The true test of nowledge is direct experience, knowledge by lentity. For this, *Viveka*, discrimination between the real and the unreal, the changeless, nd the everchanging and *Vairagya*, absence of ttachment, for the whole of the objective world, causal, subtle and gross is an imperative ecessity. Self-control, universality, equality of vision, fearlessness, straightforwardness and other ethical virtues follow automatically, if *Viveka* and *Vairagya* are fully developed. They are the offshoots of these basic virtues. *Viveka* and *Vairagya* constitute the whole of ethics. Ethics, the science of conduct, however, is a means. The ultimate end is self-realization, which alone gives liberation, freedom from bondage of the mind and the body. A merely ethical man is a *Sadhak*, a seeker after truth and not a *Siddha*, not an accomplished *Yogin*. He is not a *Jivana Mukta*. Chains are chains, be they of gold or iron. So long as the ego sense is there bondage is there. Slavery to mind and matter is there and incessant attempt to obliterate the ego sense by itself brings the mind under control. Just as reasoning is a stepping stone to intuition even so is ethics a voulting board for a jump into the Infinite. Reason and ethics are not stopping places. They are only helps on the way.

THY Name

SWAMI RAMDAS

What is sweeter than Thy Name ?
It soothes my heart—
Instils nectar into it.

What is more potent than Thy Name ?
It strengthens my will,
Imbuing it with power divine.

What is more lustrous than Thy Name?
It enlightens my mind
And fills it with wisdom.

What is greater than Thy Name ?
It brings me immortality—
Absolute freedom and bliss.

Rama's Birthday Celebrations

The 22nd year of the Rama Tirtha Publication League begins with 31st Oct. 1940, when 67th birth day of His Holiness Swami Rama was celebrated as usual by the League This year the compound of the League was over-crowded. A big oil painting that was presented by Seth Jai Narayan of Sitapur was put on a dias, close to the big shamiana, that was beautifully decorated as usual with buntings etc The meeting was presided by the Permanent President of the League, Syt Shanti Prakash. After singing the *Bhajans*, The messages from the following persons were read —

1. Dr. Bhagwana Das of Benares.
2. Swami Kara Patriji Maharaj of Benares.
3. Swami Rama Das of Anandashram, Ramnagar, Kanhagad
4. Swami Omkar of Shanti Ashram, Madras.
5. Sister Sushila Devi (Miss Ellen St. Clair Nowald) of America

A Hindi poem was then recited by Syt Ananda Prakash Sinha, a student of the Lucknow University He was followed by several speakers, who spoke on Swami Rama's life. Pandit Balwant Misra of Benares depicted Swami Rama's influence in America, while Syt Ajit Prasad M A, LL. B one of the eminent raises of Lucknow depicted the scene, which he saw 35 years hence, how Swami Rama was the magnet to attract thousands of persons irrespective of caste and creed, on the green lawn of the Kaisarbagh He said that in the presence of Swami Rama one felt the Divinity [illegible] influence.

Sriman Seth Jai Narain of Sitapur t spoke on Swami Rama and on his teachi both at home and abroad and offered him as a member of the League.

He was followed by Sufi Lacchman Pra the Editor of the *Mastana Jogi*, Lahore. came therefrom to attend this meeting and in lecture he explained that as the physical scie has shown such phenomena in this century were not even dreamt of in the last century have Swamies Rama Tirtha and Vivekana by their soul inspiring teachings of the Veda awakened the whole world and our cou from her long, long slumber of ages gone It is the influence of these Swamies, that e an Indian coolie is now respected in Amer where formerly a prince of India was ta for a coolie.

The president then thanking the audie and the speakers said that the secret of Sw Rama's life was his Practical Vedanta. Fr cradle to the pyre he did his best to give a p tical shape to what he learnt. The speaker t illustrated it from the incidents of the Swam life in his infancy, boy-hood and youth ; said that in order to be practical he had to g up all what stood in his way. This renun tion having purified his heart made him a m of firm determination, that is essential realization He added that a monthly Hi Magazine the Vyavaharik Vedanta has b started by the League to propagate the Pra cal Vedanta The meeting that was started 4 30 p m broke up at 8-30 p m, after and the distribution of the sweets as *Prasad*

Secretary

ॐ

ब्रह्मलीन् श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी जी महाराज की पुण्य-स्मृति में,

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित—

व्यावहारिक वेदान्त

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की व्यावहारिक दृष्टि से प्रकाश डालने वाला मासिक पत्र

वर्ष २ | फरवरी १९४१ | अङ्क २

सम्पादक

दीनदयालु श्रीवास्तव बी० ए० — विद्यानन्द एम० ए०

विशेष सम्पादक

श्री १०८ स्वामी अद्वैतानन्द जी

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, विद्यावैभव, इतिहासशिरोमणि

डॉक्टर एन० एन० सेन गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०

राजराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०, डी० लिट्०

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्०

मैनेजिंग डाइरेक्टर

श्री रामेश्वरसहायसिंह, हीरापुरा, काशी

प्रकाशक

महात्मा शान्तिप्रकाश

सभापति, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

मुद्रक

श्री माधव विष्णु पराड़कर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

विद्यार्थियों और पुस्तकालयों से २) राजा महाराजाओं से २५)

वार्षिक मूल्य ३) — एक प्रति का मूल्य ।-)

विषय-सूची

विषय — लेखक

सच्चा उपासक

भाई ! सच्ची कहें—उपासक और भक्त होने की पदवी हमको तो नसीब नहीं। हमने तो सच्चा उपासक सारी दुनिया में एक ही देखा है। बाकी भक्तों, ऋषियों, मुनियों, पीरों, पैगम्बरों का 'प्रेममय उपासक' कहलाना एक कहने ही की बात है। वह सच्चा आशिक और उपासक कौन है ? जिसको लोग इष्टदेव कहते हैं। क्यों कर ? प्रेमी जार (यार) की तरह छिप छिप कर छेड़ता है। शनैः शनैः वृत्ति की धज्जी (दिल का आंचल) खींचता है। अनेक प्रकार के भेष बदल कर, रंग-रूप धारण करके, स्वांग भर के पर्दों की ओट में नयनों की चोट मार जाता है। जब मन अनात्म पदार्थों में कहीं लग जाता है, तो हा ! उसके मान करने, रूठने का क्या कहना, भृकुटी कुटिल किये कैसा कैसा कोप दिखाता है। जब वृत्ति मार्ग में कहीं रुक जाये, तो घुड़कियां मारता है। दम तो लेने नहीं देता, आराम तो नाम को भी और कहीं मिलने नहीं पाता, सिवाय एक मात्र उस राम की निष्काम शय्या के।

हे प्यारे ! अब आशिक होकर रूठना, मचलना कैसा ? अब हम [illegible] कर [illegible] ! प्राणनाथ इधर देखो ! यह दुष्ट [illegible] छीन कर ले चला, तुम्हारी [illegible] को [illegible] राम, राम भी है ? यह तो धक मान करने का नहीं, अ[illegible] आओ।

त्वमसि मम भूषणं, त्वमसि मम जीवनम्,
त्वमसि मम जलधि रत्न[illegible]

सूर्य को बारह महीने तेज-प्रकाश दे[illegible] मुफ्त में। हमको आठों पहर निजानन्द देते क[illegible] तो नहीं हो चले !

हे प्रभो ! अब तो मुझ से दो-दो बातें [illegible] निभ सकतीं। खाने-पीने, कपड़े-कुटिया का ख्याल रक्खूं, और दुलारे का मुख भी देखूं। भू[illegible] पड़े पहनना-खाना, जीना-मरना, इनसे मेरा [illegible] होना है ? मेरी तो मधुकरी हो तो तुम, कमर[illegible] तो तुम ! त्रुटि हो तो तुम और औषधि हो तो [illegible] शरीर हो तो तुम, आत्मा हो तो तुम। शरीरादि [illegible] रखना चाहते हो तो पड़े रखो। अकर्ता बन बै[illegible] निकम्मे बैठे क्या करते हो ? करो सेवा—

आंखें लगा के तुझ से न पलकें हिलायेंगे।
देखेंगे खेल हम, तुम्हें आगे नचायेंगे॥

ले लो अपनी चीज। वार कर फैंक दो [illegible] 'बेनाम' पर। थाली भर भर कर हीरे-जवा[illegible] तुझ पर वार वार कर फैंक गये। जिनको लोग [illegible] नक्षत्र ग्रह-तारे, सूर्य और पृथिवियां कहते [illegible] दूर हो ज्योतिषियो, हट लो तत्व-ज्ञानियो, [illegible]

ादिगरो, राजाओ लूट लो। पर हाय, मार डालो। भी मैं तो यह माल नहीं लूंगा। डोली पर वार र फेंका हुआ टका-रुपया लूटना कोई और लोगों ा काम है। मैं तो वही लूंगा, वही! परदे वाला, लारा, प्यारा!

आप बीती कहूं कि जग बीती?

जब कभी भूले से किसी सांसारिक वस्तु में इष्टता व अनिष्टता भाव जमाता हूं, हानि-लाभ, ुराई-बड़ाई में दिल टिकाता हूं, तन्दुरुस्ती (देह की आरोग्यता) आदि को बड़ी बात गरदानता हूं, किसी ुरुप को अपना व पराया ठानता हूं, कोई चीज़ ावी या वर्तमान सत्य मानता हूं, अपने आप को ारिच्छिन्न देहादि जानता हूं, अर्थात् शुद्ध स्वरूप को भूलकर, शरीर में जमकर भेद-दृष्टि से देखता और विचार करता हूं, तो अवश्यमेव तीन तापों में कोई न कोई आन घेरता है। मेरी दृष्टि थोड़ी गिरे तो ताप भी थोड़ा होता है, बहुत गिरे तो ताप भी बहुत। इस क्षुद्र दृष्टि और तुच्छ भावना का फल खेद-दुख मिले बिना कभी रहता ही नहीं। और जब देहादि स्वप्न को परे मार, भेद-भावना को उड़ा, आत्म-दृष्टि खोलता हूं, तो संसार के तत्व ऐसे हो जाते हैं, जैसे किसी के अपने हाथ-पैर, जिस तरह चाहे हिला ले! प्रकृति की चाल मेरी आँखों का कटाक्ष हो जाता है। यही क़ानून और सब लोगों के दुख-सुख लाने में भी राज करता है, इसको न जानकर लोग मरते हैं। यह कानून कहीं कच्चा सूत न समझ लेना, अनाड़ी का काता हुआ, यह वह लोहे का रस्सा है, जिससे इन्द्र और सूर्य भी बंधे पड़े हैं। संसार-समुद्र में वह एक पत्थर की चट्टान है, जिसको न देखकर महाराजे, पण्डित, देव और दानव अपने जहाजों को तोड़ बैठते हैं। वंशों के वंश, कौमों की कौमें, मुल्कों के मुल्क इस कानून को भुलाकर मिट्टी में मिल चुके हैं।

अजगर ने समझा, कृष्ण को ही खा लूंगा और पचा जाऊंगा। लो, खा गया, पर पेट के अन्दर चलीं कटारियां। खण्ड भण्ड होकर आतिशबाजी के अनार की तरह अजगर उड़ गया, और कृष्ण वैसे का वैसा शेष रहा। क्या तुम इस सत्य रूपी कानून को खा सकते हो? दबा सकते हो, छिपा सकते हो? इस सत्य को किसी का लिहाज़ नहीं। और तो और, खुद कृष्ण के कुल वाले जब सत्य को मखौल में उड़ाने लगे और अपनी तरफ़ से मानों इसे रगड़ रगड़ कर रेत में मिला भी गये, तो यह सत्य मटियामेट होकर भी उगा, और क्या कृष्ण और क्या यादव—सब के सब को हड़प कर गया, द्वारका पर पानी फिर गया। भाई, मुरदे को उठाकर जो चिल्लाया करते हो—

राम राम सत्य है!

आज पहले ही समझ जाओ, अभी समझ लो, तो मरोगे ही नहीं। मरने के वक्त गीता तुम्हारे किस काम आयगी? अपनी ज़िन्दगी को ही भगवन् का गीत बना दो। मरते वक्त दीपक तुम्हें क्या उजाला करेगा, हृदय में हरि-ज्ञान प्रदीप अभी जला दो।

कृष्ण त्वदीय पद पंकज पंजरान्ते।
अद्यैव मे विशतु मानस राजहंसः॥
प्राण प्रयाण समये कफवात पित्तैः।
कण्ठावरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते॥

एक जुलाहा भूखों मर गया। उसकी मां मुरदे के मुंह और हाथों को पैसे का घी लगा कर सब को दिखाती थी—देख लो, मेरा पुत्र भूखा नहीं मरा, घी खाता और घी त्यागता गया है। प्यारे! उधारी मुक्ति तो जुलाहे का घी है। रोकड़ मुक्ति, नक़द निजात, जीवन-मुक्ति, जब मिल सकती है, तो क्यों न लेनी?

हरि ॐ तत्सत्

स्वामी रामतीर्थ

[ले०—डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, डी० लिट]

आधुनिक भारतीय कालेजों एवं विश्वविद्यालयों के जीवन और क्रिया-कलापों को हम अतीत के सत्यान्वेषकों के द्वारा संग्रहीत आध्यात्मिक-पद्धतियों एवं रहस्यमयी अनुभूतियों से पूर्णतया विमुख पाते हैं। अतएव वर्तमान अनीश्वरवादी शिक्षा-पद्धति के समक्ष स्वामी रामतीर्थ के जीवन और उनकी अनुभूतियों की ओर हमारी प्रवृत्ति मानवी हृदय में पुनः नवीन जीवन और उत्साह का संचार करेगी। ये विश्वविद्यालय के एक विलक्षण छात्र एवं अध्यापक थे। उनको गणित-शास्त्र के उच्च-सिद्धान्तों से विशेष अभिरुचि थी। इस प्रकार आधुनिक विश्वविद्यालय की उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करने पर भी, उन्होंने उस आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टि को प्राप्त किया था जो कि एक महान् भारतीय गुरु के लिये उपयुक्त है। ये आज कल के बहुत से कालेज विद्यार्थियों की तरह दरिद्रता एवं वाद-विवाद के पाश में जकड़ गये थे। बहुत से दिन तो उनके ऐसे बीत जाते थे जब कि उनके पास एक पैसा भी नहीं रहता था। उन्हें विवश होकर कालेज के एक दयालु हलवाई के यहां क्षुधा-पूर्ति करनी पड़ती थी। यह हलवाई प्रारम्भिक काल में ही उनकी प्रतिभा एवं आदर्श व्यक्तित्व से प्रभावित हो चुका था। कालेज के जीवन-काल में ही उन्हें रहस्यमयी अनुभूतियाँ हुआ करती थीं। किन्तु मुरलीधर कृष्ण की सत्यवाणी उनके कर्ण कुहरों में प्रतिध्वनित होकर उन्हें सदैव आत्मश्लाघा एवं अहंकार से ऊपर उठाती रहती थी। इस प्रकार ये नवयुवक जीवन के उच्च सन्देश के लिये अपने को ईश्वरोन्मुख [illegible] और आध्यात्मिक बनाते गये। उन्हें ज्ञान के लिये ही ज्ञान-ध्यान का [illegible] [illegible] थी। वे ज्ञानोपार्जन के लिये कभी कभी अपने भोजन का भी परित्याग कर देते थे और उपवास द्वारा संचित पैसे से रात में पढ़ने के लिये चिराग के लिये तेल खरीद लेते थे। योगी सदृश रातदिन अथक परिश्रम के पश्चात् भी उनके मुखमण्डल में वह दिव्य-कान्ति सदा देदीप्यमान होती रहती थी, जो एक सत्यान्वेषी के वदन में सदैव पायी जाती है। कुछ समय तक ये 'फारग्यूसन क्रिश्चियन कालेज' में गणित-शास्त्र के अध्यापक रहे। इस कालेज में भी ये आध्यात्मिक प्रेम के उस जीवन में प्रगतिशील रहे और उनका जीवन रहस्यवादी काव्य, धार्मिक प्रेम और गेटे, इमरसन, थोरो आदि के दर्शन-शास्त्र से अभिरंजित होता रहा। प्रेमोद्रेक में ये जीवन-वैभव की निःसारता पर हँसते तथा दुःख में उनका वदन प्रफुल्लित रहता था। रात्रि में उनकी पतिव्रता रमणी चैतन्य की पत्नी की भाँति निर्निमेष दृष्टि से उनके आनन्दाश्रु के प्रवाह को देख कर स्तम्भित हो जाती थी। स्वभावतः कल्पना-लोक में विचरने के कारण प्रकृति देवी के वे सच्चे सौन्दर्योपासक थे। विकसित पुष्पावलियों तथा हरीतिमा की अद्भुत छटा के ये सच्चे पुजारी थे। ये सरिताओं के कल-कल निनाद में, विहंगमों के कलरव में उस स्वर्गिक आनन्द को उपलब्ध करते थे जिसमें अन्ततः मानव, प्रकृति एवं प्रकृति के अधिष्ठिता देवता का सुन्दर सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी राम उस प्राचीन सर्वात्मैक्यवाद के साक्षी एवं प्रचारक हुए हैं, जिसे हम अद्वैतवाद सिद्धान्त कहते हैं। पूर्णसिंहजी के कथन से यह ज्ञात होता है कि स्वामी राम का स्वामी विवेकानन्द से लाहौर में साक्षात्कार हुआ था। वह देश के इस महान् [illegible] [illegible] के प्रभावोत्कारी आचरण

और भाषण से प्रभावित होकर स्वामी राम ने गेरुवा वस्त्र धारण करने का संकल्प किया। ऋषिकेष की पावन वनस्थली में उन्हें आत्मज्ञान और आत्मानुभूति हुई। स्वामी राम की रहस्यमयी अनुभूति की विशेषता है—अनेक में एक और एक में अनेकवाद के परमतत्व का आविर्भाव और प्रसार। यही कविगत हृदयोद्‌गार का प्रकटीकरण है। वे अर्वाचीन भारत के सर्वोच्च रहस्यवादी कवि हैं। उनका काव्य गूढ़ धार्मिक सिद्धान्तों से युक्त तथा यथार्थ आत्मवाद का वास्तविक विश्लेषण है। वे वन के वृक्षों से तदात्मीयता का अनुभव करते थे और शिलाओं में मनुष्य के हृदय का स्पन्दन पाते थे। उन्होंने अपने आपको निम्न-लिखित शब्दों में कितनी सुन्दरता से प्रदर्शित किया है—

"वाटिका के सुन्दर विकसित पुष्प मैं ही हूँ; मनोहर परियों की मधुर मुसकान में ही हूँ; शूर-वीरों की भुजाओं का पराक्रम मैं ही हूँ; सर्वशक्तिमान् मैं ही हूँ; विद्युत् का प्रकाश मैं ही हूँ; मेघों का गर्जन मैं ही हूँ; डाल-डाल और पात-पात में मैं ही डोलता हूँ; वायु की सनसनाहट मैं ही हूँ; समुद्र की लहराती लहरों में मैं ही हूँ; प्रेमियों के स्पन्दित हृदय में मैं ही विराजमान हूँ, मानवीय प्रेमिका की मन्द मुस-कान में मैं हूँ।" ये शब्द अनन्त रागात्मिक प्रवृत्ति एवं आनन्द से ओत-प्रोत हैं, गम्भीर उपनिषदों के छन्दों के स्मारक हैं और इस पर भी नवीनता एवं मौलिकता का इनमें अभाव नहीं। सचमुच ये मानव जाति के धार्मिक जीवन की अनुभूति के लिये एक महान देन हैं। सनातन आनन्द का प्रेम ही इस प्रकार की भाषा का उद्‌गम-स्थान है, जिस आनन्द में याज्ञवल्क्य के कथनानुसार जगत की सम्पूर्ण वस्तुयें रहतीं, चक्कर खातीं और उत्पन्न होती हैं। अपनी आत्मा में इस चिदानन्द का अनुभव करते हुए वे सरिताओं को अपनी धमनियाँ कहते, अपनी हड्डियों को पर्वत कहते और तृणों को पदचुम्बित करते हुए प्यार करते थे। पेन्सिल, कागज और दावात से भी आत्मीय सम्पर्क स्थापित करने के हेतु वे उनका नाम-करण कर देते थे। जब उन्होंने अर्जुन के से दिव्य चक्षुओं द्वारा अपनी आत्मा का विराट् दर्शन किया तब अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्होंने रहस्यमय, गूढ़ अट्टहास से कहा, "भारतभूमि मेरा शरीर है, इस शरीर के मालाबार और कारोमण्डल नामक दो पैर हैं, कन्या-कुमारी अन्तरीप मेरे चरण हैं, राजपूताना की मरुभूमि मेरा वक्षस्थल है, विन्ध्याचल मेरी कटि है, अपनी ही भुजाओं को मैंने पूर्व एवं पश्चिम दिशाओं में फैला रखा है, उच्च हिमगिरि की श्रेणियाँ मेरे मस्तक के सुसज्जित केश हैं, परमपावनी गंगा मेरी ही जटाओं से प्रवाहित हो रही, मैं ही भारत हूँ, मैं ही शिव हूँ।" जैसे शरीर की सीमा के परे उनका व्यक्तित्व है, वैसे ही मानसिक तथा सामाजिक जीवन भी उसी प्रकार फैला हुआ है—इस प्रकार की अनुभूति उन्हें तब होती थी जब वे विश्वात्मा का दर्शन अपनी आत्मा में ही करते थे। आधुनिक जन्तुशास्त्र भी इस बात का बहुतांश रूप में समर्थन करने लगा है। वह मानता है कि काल, स्थान और वातावरण के परे भी व्यक्तित्व का विस्तार होना सम्भव है।

भारत में बहुत कम ब्रह्मयोगी, ज्ञानी कर्मयोगी होते देखे गये हैं। स्वामी राम सर्वदा एकात्मभाव के ज्ञान में तल्लीन रहते थे और फिर ज्ञान प्रसार करते थे तो दिव्य। उन्होंने हिमालय के जंगलों की शान्ति से समय समय पर उद्वेलित होकर सम्पूर्ण जगत् के लिये एक नये सन्देश का अन्वेषण किया है। उनमें धर्मोपदेशक होने की तीव्र लगन स्वामी विवेकानन्द की ही भाँति थी। जापान एवं अमेरिका की यात्रा कर उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर 'व्यावहारिक वेदान्त' का प्रचार किया है। इन देशों के बहुत से लोग अभी तक उनकी धार्मिक सहिष्णुता, सौम्यता एवं आध्यात्मिक कवित्व के घनिष्ट प्रकृति-प्रेम को स्मरण करते रहते हैं।

तेंतीस वर्ष की अल्पायु में ही टेहरी के समीप दीपमालिका पर्व के शुभ अवसर पर शीतल गङ्गा की कलकल निनादित लहरों में इन्होंने चिर विश्रान्ति ली। जिस प्रकार इनका जीवन रोमाञ्चकारी घटनाओं से परिपूर्ण रहा, उसी प्रकार उनका देहावसान का दृश्य भी रोमाञ्चकारी था।

जीवन के अनेक क्षेत्रों में हम स्वामी राम के पवित्र व्यक्तित्व को एक अद्भुत देन पाते हैं। आधुनिक भारत के अनेक धार्मिक उपाध्यायों से कहीं अधिक उनका व्यक्तित्व शिक्षित समुदाय को प्रिय, प्रभावकारी एवं हृदयग्राही हो सकता है। इसका कारण है, उनका प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक व्यक्ति के साथ तदात्मीयता का अनुभव करना। इसीलिए उन्हें विविध विषयों में अभिरुचि थी। यही कारण है जो उनमें अफलातूँ से जन्तुशास्त्र से लेकर गणितशास्त्र और हिन्दू एवं सूफी दर्शनशास्त्र से लेकर स्पिनोजा, डेन्स, और आधुनिक अमरीका के साहित्य तक में प्रेम उत्पन्न करा सका है। जगत् के धार्मिक साहित्य में ऐसी मार्मिक अनुभूतियाँ और अमरत्व विषयक काव्यमय उक्तियाँ बहुत कम होंगी, जैसी रहस्यमयी अनुभूतियाँ इन्हें अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा में हुई थीं। "मुझे इस क्षणभङ्गुर शरीर की तनिक भी परवाह नहीं, मेरे लिये तो अनेक शरीर प्रस्तुत हैं, मैं इन देदीप्यमान रजत तारों को और दिव्य चन्द्र-ज्योत्स्ना को धारण करने में समर्थ हूँ। मैं देवर्षि नारद की भाँति पहाड़ी नदियों एवं पर्वतीय झरनों का बाना धारण कर गायक के रूप में पर्यटन कर सकता हूँ। मैं समुद्र की लहरों में नृत्य कर सकता हूँ। मैं शनैः शनैः बहने वाली वायु हूँ और मैं ही उन्मत्त पवन हूँ। मेरे ये बहुत से रूप परिवर्तन के परिभ्रमित आकार हैं। सुदूरवर्ती पहाड़ी प्रान्त से अवतीर्ण होकर मैंने मृतकों को जीवन प्रदान किया, सुषुप्तों को जाग्रत किया, सुन्दर सलोने स्वरूपों को विकसित किया और अनेकों अश्रुपूर्ण नेत्रों के आँसू पोंछे। मैंने गुलाब के पँखुरियों के साथ बुलबुल को फुदकते देखा और उन से बातें कीं। मैंने कभी इस पदार्थ का, कभी उस पदार्थ का आलिङ्गन किया। यह देखो ! मैं अब अपने मुकुट को उतार कर, यह चला। मैं कभी इधर छुपता हूँ, कभी उधर छिपता हूँ, मुझे कोई पा नहीं सकता।"

स्वामी राम का जीवन चरित्र ही स्वयं एक धार्मिक काव्य है। इतना लघु, पर रहस्यमय गम्भीरता को लिये हुये कितना महान और कितना विस्तृत ! सारा जगत ही पृष्ठ है, उनका जीवन ही इसकी कविता है और चमकते हुये स्वर्णाक्षर यह आनन्दमय काव्य है जो इस विश्व के सृजन करने के तत्व हैं। "आनन्दात् खलु इमानि भूतानि जायन्ते।" हे ईश ! हम सब मिल कर यह आनन्द लूटें।

संत-वाणी

[श्रीस्वामी शरणानन्द जी]

१—जो किसी को नहीं चाहता, उसको सभी चाहते हैं।

२—जो कुछ नहीं करता, वह सब कुछ करता है।

३—कुछ करने से भोग और कुछ न करने से योग अपने आप हो जाता है।

४—अहंकार चाह के आधार पर जीवित है।

५—सभी प्रकार की चाह मिट जाने पर अहंकार मिट जाता है।

६—अहंकार के मिटते ही सत्य का अनुभव होता है।

देवासुर-संग्राम*

[लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द जी]

'देव' शब्द दिव् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना। अतः जो चमकता है, प्रकाशमान है, वह देव है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। असुर वह है जो 'असु' वाला है, जिसमें प्राणशक्ति है, जो बलवान् है। यह शब्द भी देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है।‡ परन्तु पीछे से व्यवहार में अन्तर पड़ा। उदाहरण के लिए प्रारम्भ में वृत्र को भी देव की उपाधि दी गयी परन्तु ऋग्वैदिक काल में ही धीरे-धीरे देव शब्द तो इन्द्रादि के लिए और असुर शब्द उनके बलवान शत्रुओं, दैत्यों के लिए व्यवहृत होने लगा। इसके बाद न तो कोई दैत्य देव कहलाया, न कोई देव असुर कह कर पुकारा गया। साधारण हिन्दू की तो यही धारणा है कि जो सुर (देव) नहीं हैं वे असुर हैं।

परन्तु आर्यों की सभी शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ। एक शाखा ने असुर शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में जारी रक्खा। उसने देवाधिदेव को उसी पुरानी उपाधि असुर महत् (अहुर मज्द) से पुकारने की परम्परा बनाये रक्खी। परिणाम यह हुआ कि एक शाखा असुरोपासक, दूसरी देवोपासक हो गयी। पहली शाखा के लिए असुर शब्द बुरा, और ... शब्द अच्छा, दूसरी के लिए असुर शब्द अच्छा, ... बुरा हो गया। एक ने दूसरे को असुर पूजक या देव पूजक कह कर निंद्य ठहराया। यह बात आ... तक चली आती है। उनके वंशजों में इन शब्दों ... इन्हीं उल्टे अर्थों में चलन है। हिन्दू देवों को पूज... और असुरों को कोसता है, पारसी असुरों को पूज... और देवों को गाली देता है।

यह विचित्र बात है, पर सत्य है। दोनों श... प्राचीन हैं। एक ही भाषा के भण्डार के हैं। कि... समय में इनके प्रयोग के विषय में कोई मतभेद न... था। परन्तु पीछे से इस मतभेद ने गहरे द्वेष का रू... पकड़ा। अवश्य ही असुर और देव शब्द झगड़े ... कारणों के प्रतीक बन गये होंगे। और बातों में ... दो रायें रही होंगी। ये बातें क्या थीं, इसका इ... समय ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ का अनुमा... हो सकता है। क्रमशः एक मत के अनुयायी देवों ... झंडे के नीचे आ खड़े हुए, दूसरे पक्ष के मानने वा... असुर सेना में भरती हो गये। दो दल बन जाने ... बाद तो छोटी छोटी बातों का महत्व और भी ब... जाता है और आपस में विरोध करने वाली हज... बातें मिल जाती हैं। एक ही उदाहरण लीजिए... वैदिक आर्य और उनके वंशज आज तक मुर्दों ... जलाते हैं, परन्तु आर्यों की एक दूसरी शाखा पारसि... की अवेस्ता में इसको ऐसा पाप माना है जिसके लि... कोई प्रायश्चित का विधान ही नहीं है। पारसी लो... कहते हैं कि मुर्दा जलाना अग्नि को, जिसकी पूजा ... जाती है, *अपवित्र करना है। सम्भवतः ऐसे ... विचार आज से कई हजार वर्ष पहले उनके पूर्व... के मन में उठे होंगे और इस बात पर आपस ... विवाद हुआ होगा। परन्तु यह झगड़ा बढ़ते बढ़ते ऐ... हो गया कि उसका निपटारा असम्भव हो गया।*

---

* लेखक की अप्रकाशित 'आर्यों का आदिम निवास स्थान' नामक पुस्तक से।

‡ जैसे, 'त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्। त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः'। (ऋक् १-१७४-१)

इसमें इन्द्र को असुर कहकर सम्बोधित किया है।

पहचानते हैं। वेद और अवेस्ता—दोनों ने ही इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग किया है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोगों को इन नामों के अतिरिक्त एक और नाम की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने देखा कि अन्य सब द्युतिमान वस्तुओं की अपेक्षा तेजस्वी होने पर भी सूर्य्य को अन्धकार दबा लेता है। ऐसा रात में ही नहीं होता, दिन में भी बादल उसे छिपा लेते हैं और कई दिनों तक छिपाये रखते हैं। साल में कई महीनों तक सूर्य्य बादलों से अभिभूत रहता है। चन्द्र-तारा खचित आकाश अर्थात् वरुण की भी यही दशा होती है. उनको भी मेघों से दबना पड़ता है। जब बादल घिर-आते हैं तो फिर जल में जो नावें इधर-उधर टकराती फिरती हैं, उनकी रक्षा जलस्थ वरुण भी नहीं कर पाते। आग भी बुझ जाती है और बिजली भी मेघ में कैद हो जाती है। यदि समय से वृष्टि न हो तो नदियाँ सूख जाती हैं, ऋतु विपर्य्यय हो जाता है, मनुष्य त्राहि-त्राहि पुकार उठता है। यही अवस्था उस समय होती है, जब अनियंत्रित वृष्टि होती है। यह स्पष्ट ही है कि यदि यह अन्धेर बराबर बना रहे, तो प्रलय हो जाय, कम से कम कोई जीवित प्राणी तो पृथ्वी पर न रह जाय। परन्तु ऐसा होता नहीं। जहाँ यह सब नाटक प्रकृति के रंगमंच पर होते रहते हैं, वहाँ यह भी देख पड़ता है कि एक शक्ति ऐसी है जो बादलों को समय पर लाती है, यथा समय वृष्टि कराती है, नदियों को जल और मनुष्यों को अन्न देती है, सूर्य्य-चन्द्र-तारादि को बन्धन से मुक्त करती है, सब विभूतियों में मनुष्यों का त्राण करती है। यह शक्ति ईश्वर से, उस ईश्वर से जो मित्र, वरुण आदि रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है, भिन्न नहीं ही सही, फिर भी इसके कामों को देखकर इसका पृथक् नामोद्देश करना उचित प्रतीत हुआ। ऋषियों ने इसे इन्द्र कह कर पुकारा। गुणानुरूप इन्द्र के और भी पर्य्याय बने, परन्तु मुख्य नाम इन्द्र ही हुआ। विरोधी शक्ति को, उस शक्ति को जो जगत को तमाच्छादित करके तथा प्राणधारक जलधारा को रोक कर सताता है, वृत्र (आवरण करने वाला—ढकने वाला) नाम दिया गया। इन्द्र देवों के—दिव्य, पवित्र मनुष्यों के लिये हितकर शक्तियों के—नायक हुए; वृत्र असुरों और दैत्यों का—अपवित्र, अंधकार मय, मनुष्यों के लिये हानिकर शक्तियों का—नेता हुआ। इन्द्र के पीछे धर्म्म-समर्थक, वेद पर श्रद्धा रखने वाले थे। वृत्र के साथ धर्म्म-विरोधी, वेद-निन्दक थे। एक बात और ध्यान देने की है। अवेस्ता इन्द्र की पूज्य सत्ता को नहीं मानता परन्तु अहुरमज्द को वेरेथ्रघ्न (वृत्रघ्न) अर्थात् दानव को मारने वाला कह कर पुकारता है। इससे यह तो प्रमाणित होता है कि वृत्र—'वेरेथ्र' के मारे जाने की कथा किसी न किसी रूप से आर्य्यों में बहुत दिनों से चली आती है। यह विकास स्वाभाविक है, पर एक दिन में न हुआ होगा। सैकड़ों बरस लग गये होंगे। वेदों में तो इन्द्र-पूजा पूर्णतया प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद में इन्द्र न केवल मेघों के स्वामी हैं, न केवल देवराज हैं, न केवल वज्रधर वृत्रघ्न हैं परन्तु वह प्रज्ञा के देने वाले हैं, स्रष्टाओं के भी स्रष्टा हैं, उनकी विभूति अवर्णनीय है, यह जगत् उनकी अभिव्यक्ति मात्र है—पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतन्दिवि,—वह परम ज्योतिर्मय तत्व आदित्य वर्ण तमसः परस्तात्—हैं।

परन्तु जहाँ तक प्रतीत होता है, सभी आर्य्यों को यह विकास अभिमत न था। उनको ऐसा समझ पड़ा होगा कि पुराने देव और पुराने नाम पर्य्याप्त हैं; देवों की अधिष्ठातृ शक्ति को पृथक से पुकारने की आवश्यकता नहीं है। ज्यों ज्यों इन्द्र की उपासना बढ़ी, त्यों त्यों आपस का विरोध बढ़ा। एक ओर इन्द्र को मानने वाले, दूसरी ओर उनको न मानने वाले और बुरा-भला कहने वाले हुए। एक पक्ष ने देव शब्द को अपनाया, दूसरे ने असुर को। दोनों पक्षों को यह मान्य था कि इस विश्व में प्रकाश और तम, धर्म्म

और अधर्म्म में निरन्तर युद्ध होता रहता है। जिन पुरानी कथाओं को दोनों मानते थे, उनमें इस बात का जिक्र था। पर वैर-विरोध बढ़ते बढ़ते एक ने यह कहना आरम्भ किया कि धर्म्म और प्रकाश पक्ष का नाम देव पक्ष है, अन्धकार और अधर्म्म पक्ष का नाम असुर पक्ष है; दूसरी ओर से यह कहा गया कि देव अन्धकार और पाप के समर्थक हैं और असुर *सैन्य इनको हरा कर धर्म और प्रकाश को फैलाती है।*

हमारी पुस्तकों में जिस देवासुर-संग्राम का इतना रोचक वर्णन है, जिससे पुराणों के अध्याय के अध्याय भरे पड़े हैं—उसका बीज यही है।

लड़ाई घर वालों की थी, यह भी साफ साफ कहा गया है। प्रजापति की अदिति नामक पत्नी से आदित्यों अर्थात् देवों की और दिति से दैत्यों की उत्पत्ति बताई गई है। इससे यह तात्पर्य निकला कि देव और दैत्य, सुर और असुर, सौतेले भाई थे। उनकी आपस की लड़ाई थी। परन्तु मनुष्य लोग यज्ञ-होमादि द्वारा देवों की उपासना करते थे, इसलिये असुर लोग मनुष्यों को तंग करते थे। ये कथायें भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि देवासुर-संग्राम, जहाँ प्रकृति के मंच पर हुआ और नित्य होता रहता है, वहाँ उसकी आवृत्ति पृथ्वी पर आर्य्यों की दो शाखाओं में, प्रजापति की ही दो सन्ततियों में हुई, जिनमें से एक तो यज्ञों में देवों को तुष्ट करना चाहती थी और दूसरा इसका विरोध करती थी। देवासुर-संग्राम आर्य्यों का यादवीय युद्ध था।

वेदों में ऐसे लोगों का बराबर जिक्र आता है, जो वैदिक देवों को विशेष कर इन्द्र को नहीं मानते थे। उनके साथ घोर संग्राम का भी वर्णन आदि से अन्त तक भरा पड़ा है। उदाहरण के लिए दो तीन अवतरण पर्याप्त होंगे:—

प्रयेमित्रं प्रार्यमणं दुरेवाः प्रसंगिरः प्रवरुणं मिनन्ति।
न्य मित्रेषुवधमिन्द्रतुम्रं वृषन्वृषाण मरुष शिशीहि ॥
ऋक् १०-८९-९

जो दुष्ट लोग मित्र, अर्यमा, मरुत, वरुण को अवमानित करते हैं उनको हे इन्द्र तुम तीखे व से मारो।

उभे पुनामिरोदसी ऋतेनद्रुहो दहामि सयंहीरनिद्रा
अभिव्लग्य यत्रहता अमित्रा वैलस्थानंपरितृह्ला अशेरन
(ऋक् १-१३३-१

मैं यज्ञ द्वारा पृथ्वी और आकाश को पवि करता हूँ। *उन विस्तृत भूभागों को जला देता हूँ,* अनिन्द्र (इन्द्ररहित—जहां इन्द्र नहीं माने जाते) हैं जहां जहां शत्रु एकत्र हुये, वहां वे हत हुए वे नष्ट होकर श्मशान में पड़े हैं।

कई ऐसे नरेशों के नाम आये हैं, जिन्होंने इ की विशेष कृपा प्राप्त की थी। दिवोदास, त्रसद श्रुतवी, कुत्स आदि ने इन्द्र के प्रसाद से ही अप शत्रुओं को परास्त किया और पराक्रमी होते हु भी तुम, बृहद्रथ, शम्बर और कृष्ण इसलिए पर जित हुए कि वे इन्द्र से विमुख थे।

ऋग्वेद के भीतर ऐसी पर्याप्त सामग्री है जिस यह विदित होता है कि किसी समय, या यों कहि कि दीर्घ काल तक, आर्य्यों में आपस में घोर यु हुआ है। यह युद्ध किन कारणों से हुआ, यह ठी ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उन कारणों उपासना-विधि को प्रधान स्थान मिल गया—य निर्विवाद है। और कारण दब गये, पर यह बात दब सकी। इसमें कोई समझौता सम्भव न था। ए को अपने असुरोपासक होने पर गर्व था, दूसरे देवपूजक होने का अभिमान था। एक इन्द्र को दे राज मानता था और उनके नाम पर लड़ता थ दूसरा मित्र वरुण, अग्नि, वायु यम के साथ किसी दूस का नाम लेना नहीं चाहता था। एक पुरानी पद्धति टलना नहीं चाहता था, दूसरा इस धार्मिक विका का समर्थक था। दोनों पक्षों में खूब युद्ध हुआ आपस की लड़ाई सदैव भयावह होती है। कभ असुर पक्ष जीता, कभी देव पक्ष। परन्तु ऐसा प्रती

७–इसी चिरकालीन पाप से यह देवी माया में फँसा हुआ ऊपर-नीचे जन्म-मरण संसार में चकराता रहता है। तो भी इस चक्र का ऊपरी भाग नीचे भाग से श्रेष्ठ है। इसीलिए वेद भगवान् उन कर्मों को जो ऊपरी भाग में ले जाते हैं, धर्म ठहराता है और उन कर्मों को जो नीचे भाग में ले जाते हैं, अधर्म बतलाता है। परन्तु किसी भी कर्म से यह चिरकालीन पाप जिसे वेद आत्महत्या का नाम देते हैं, कट नहीं सकता।

८— इसलिए कर्मों के करने से, वे चाहे कैसे ही अच्छे क्यों न हों, इस आत्महत्या के पाप से छुटकारा नहीं मिल सकता। क्योंकि यह पाप तो माया कृत उत्थापन है; फिर क्यों कर यह कर्मों से दूर हो। हाँ, बुरे कर्मों से जो पाप होते हैं, वे अच्छे कर्मों से दूर हो जाते हैं। किन्तु यह गूढ़ पाप कर्मों से पैदा नहीं हुआ, वरन् अज्ञान से पैदा हुआ है, इस लिए यह कारण 'अज्ञान' कर्मों से नहीं, केवल ज्ञान से मिट सकता है। क्योंकि अज्ञान अंधकार है और ज्ञान प्रकाश है। और यह भी स्पष्ट है कि अन्धकार केवल प्रकाश से ही मिट सकता है, कर्मों से नहीं।

९— मान लो, किसी कमरे में अन्धेरा है। उसे बाहर निकालने में (Dynamics) गति-विद्या-विशारद चाहे जितना कुशल हो, किसी प्रकार सफल नहीं हो सकता। किन्तु जब दीपक जलाया जाता है तो अन्धेरा तुरन्त भाग जाता है। इसी प्रकार अज्ञान के अधर्म में फँसा हुआ मनुष्य पाप और पुण्य की ठोकरें खाता रहता है। यद्यपि जैसे कोई ठोकर दूसरी ठोकर से अच्छी होती है, उसी प्रकार पुण्य पाप से अच्छा होता है, फिर भी है तो वह ठोकर ही। अन्धकार में कोई इन ठोकरों से नहीं बच सकता।

१०— इसलिए सर्वाधिक आवश्यक धर्म वह है जिससे अन्धकार दूर हो और हम ठोकरों से बच सकें। यह अन्धकार क्या है? अपनी यथार्थ आत्मा का अज्ञान। आत्मा जैसी है वैसी न जान कर उल्टा जानना ही अज्ञान है। यह अज्ञान बिना ज्ञान के नहीं दूर होता जब ज्ञान आता है तब अधर्म भाग जाता है और फि मनुष्य पाप-पुण्य की ठोकरें नहीं खाता। इसलि श्रुति क्या पाप, क्या पुण्य सब को वही चिरकाल पाप बतलाती है। और उस ज्ञान को जिससे ठोकर अथवा चिरकालीन पाप दूर हो जाता है, प धर्म जतलाती है।

११– पापों की ठोकरों से बचने के लिए अध्यायों में पुण्यों की ठोकरों को धर्म बतलाया ग है। पर पुण्य भी ठोकर है, इसलिए उससे बचने लिए ४० वाँ अध्याय जिसकी व्याख्या के लिए तत्पर हुए हैं, दिया गया है। बस, ये दोनों ठो कर्मकाण्ड के कारण से प्रकट होती हैं। क्योंकि क काण्ड से ही सचमुच हमें ठोकरों की पहचान होती कि कौन सी बुरी है और कौन सी अच्छी है। द शब्दों में जिन कर्मों से निम्न श्रेणी की ठोकरें लग है उन्हें कर्मकाण्ड में वर्जित किया गया है, ताकि नि कोटि से बच कर उच्च कोटि की ठोकर खावें। पर वास्तव में ये ऊँची ठोकरें भी वेद भगवान् को रुचिकर न हैं। इसलिए अन्त में वे उनकी भी निन्दा करते हैं और उनसे छुटकारा पाने के लिए अब कर्मकाण्ड स्वतंत्र होने का आदेश देते हैं।

१२– इस प्रकार के मार्ग से कर्मकाण्ड से स्व होना अधर्म नहीं, वरन् परम धर्म है। परन्तु आत्मा को पहचान नहीं पाते और हठपूर्वक क काण्ड से स्वतंत्र हो जाते हैं, वास्तव में नीची ठो खाते हैं, जो अच्छी नहीं होतीं। इसका कारण है कि मनुष्य स्वभावतः उस अधर्म के वशीभूत जिसे हम आत्महत्या कहते हैं और इसी कारण भले और बुरे को भी नहीं पहचान सकता। क्यों वास्तव में जो आत्महत्या है वह कारागार या अन्धक के कारण है। ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव है कि अच्छे और बुरे को पहचान सके। इसीलिए वह स्वभाव उन्हीं कर्मों को करता जाता है जो निम्न श्रेणी

फल देता है। जैसे यज्ञ की सामग्री की पहचान असल में अपना फल कुछ नहीं रखती, क्योंकि यज्ञ की सामग्री का जानने वाला यज्ञ न करे तो उसकी विद्या उसे कोई लाभ नहीं दे सकती, वरन् निरर्थक होती है। और यज्ञ करे तो उसका फल होता है। इसलिए यज्ञ-सामग्री की पहचान कर्मों के पुछल्ले हैं और यहाँ यह बात नहीं है, क्योंकि इस पहचान का नकद और स्वतंत्र फल मिलना बतलाया गया है।

२०—"कहते हैं, आत्म-ज्ञानी नहीं चलता, तो भी मन से बढ़कर चलता है। देवता उसे छू नहीं सकते, और वह सबसे आगे है। वे दौड़ते हैं,वह बैठा-बिठाया ही उनसे बढ़ जाता है। वह सब की करतूतों की चट्टान है।" वेद एक बार नहीं; अनेक बार दुहराते हैं —"वह चलता है, पर नहीं चलता। वह दूर से दूर है और निकट से निकट है। वह सब के अन्दर, सबके बाहर, सब कुछ है।" अब भला इस प्रकार सर्वशक्तिमान् आत्मा की पहचान क्यों कर कर्मों का पुछल्ला हो सकती है।

२१—जब कि इन मंत्रों में आत्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वद्रष्टा, अकर्ता, अभोक्ता, मुक्त, पापों से निर्लेप,सबकी करतूतों की चट्टान, सब का फलदाता कहा गया है, तब अपनी करतूतों में क्योंकर फंस सकता है। वह तो निर्द्वन्द्व है। उसे कर्मों से क्या प्रयोजन। यदि मुक्त है तो बन्धन कैसा! यदि स्वामी है तो दास क्या! और यह प्रत्यक्ष है कि जो बद्ध के धर्म हैं, वे मुक्त के नहीं। जो दास के काम हैं, वे स्वामी के नहीं।

२२—साधारण समझदार मनुष्य जान सकता है उनके धर्म सर्वथा एक दूसरे से विपरीत और विरोधी हैं। और दो विरोधी वस्तुयें एकत्र हो नहीं सकतीं। जो वास्तव में अकर्ता, अभोक्ता है, वह वास्तव में कर्ता, भोक्ता नहीं हो सकता। अतः जब वह क[र्ता] भोक्ता नहीं, तो कर्म किस तरह कर सकता और भगवान् क्योंकर उस को कर्मकाण्ड के करने [की] आज्ञा दे सकता है। कदापि नहीं।

२३—वह यह भी जान सकता है कि जब [कर्म और] धर्म परस्पर विरोधी हैं तो यदि ज्ञानी आत्मा कर्म [करे] तो वह आत्महत्या होगी, जैसे आग पानी को [बुझा] देती है। ज्ञानी आत्मा के लिए यज्ञादिक कर्म आ[त्म]हत्या के कारण होते हैं। यही कारण है कि [यह] मंत्र उसके लिए आत्महत्या के पाप का सङ्केत करता [है]। अतएव मंत्रों के अर्थों के अनुसार भी उसे कर्म [में] लगाना सचमुच पाप करना है। यही कारण है [कि] ज्ञानी के लिए कर्मकाण्ड के कर्म अधर्म हो जा[ते हैं] और कर्मकाण्ड ही अभिशापरूप हो जाता है।

२४—प्रथम मंत्र में मुक्ति का आदेश प्रत्यक्ष [है] और उनका ब्राह्मण भाग भी हमें कर्मों में नहीं लगा[ता] वरन् कहता है कि हमको कर्मों से क्या प्रयो[जन] क्योंकि हमारा यह आत्मा ही स्वामी है। आत्मा न कर्मों से बढ़ता है और न घटता है। अतः ब्राह्मण [भाग] और इन मंत्रों का मेल आवश्यक है। जब कि ब्रा[ह्मण] और ये मंत्र दोनों इस बात में एकमत हैं कि ये [आत्मा] कर्मों से सम्बन्ध नहीं रखते, तब क्योंकर अन[्य] पण्डितों की यह कल्पना मान ली जावे कि जैसे [यज्ञ] की सामग्री की पहचान कर्मों का पुछल्ला [है] वैसे ही आत्मा की पहचान कराने वाले ये मंत्र भी क[र्मों] के पुछल्ले हैं।

२५—अतः कर्म और ज्ञान सर्वथा विपरीत [हैं] और मुक्ति, नकद मुक्ति ज्ञान ही से, आत्मा [की] पहचान ही से मिल सकती है। (अपू[र्ण])

त्याज्य वस्तु कहते हैं। भला कौन ऐसा है जो वमन की हुई वस्तु को फिर ग्रहण करेगा ? अमृत तत्व को छोड़ कर कौन विष लेगा। एक सम्राट था जो निशि दिन भोजन ही किया करता था। प्रत्येक देश के भोजन बनाने वाले उसने नौकर रक्खे थे। दिन रात वह खाता था और पेट भर जाने पर वमन कर देता था और फिर खाने बैठता था। क्या हम उसी कोटि में जाना चाहते हैं। तब हम में और शूकर में क्या अन्तर रहेगा ? वह भी सारे संसार को भूल जाता है, मस्त होकर अपना मलिन खाद्य खाता है। हम उसके प्रति क्यों घृणा प्रकट करते हैं, यदि हम ... नाओं को, किसी इन्द्रिय विशेष की तृप्ति को ... आनन्द माने बैठे हैं। भारतवर्ष में एक नरेश जो आजीवन निशि-दिन भोग-विलास में ही रहते थे। उनकी स्थिति किस कूकर से श्रेष्ठ थी! ... जन्म विकास की चरम सीमा है। हम पीछे ... लौटते हैं। हमें देवत्व की ओर बढ़ना चाहि... अपने में ही स्थित अमृत कुंड को जान लेना चाहि... माताजी के सदुपदेश इसी प्रकार के संयम पर ... देते हैं। क्या हम उनसे लाभ उठावेंगे ?

निजानन्द

[ले०—महात्मा शाहन्शाह]

दुनिया है एक पुतली, और मैं नचा रहा हूँ।
खुद कर रहा हूँ करतब, खुद को दिखा रहा हूँ॥

इक हाथ में है दोजख, और दूसरे में जन्नत।
दोनों के सर पकड़ कर, टक्कर लगा रहा हूँ॥

सर फट गया है ग़म का, खा खा के मुझसे टक्कर।
अब गाड़ने को उसके, तुरबत बना रहा हूँ॥

दोनों जहाँ के गुल्शन, हैं सैरगाह अपनी।
खुद सैर कर रहा हूँ, तुमको करा रहा हूँ॥

पैरों तले दबाया है, सरकशों के सर को।
और बेकसों के पावों, सर पर चढ़ा रहा हूँ॥

जिस्म खाक अपना, जो कुछ कि देखते हो।
... नजर में सब की, उसको घटा रहा हूँ॥

चेहरा नजर से ओझल, मेरा है क्यों तुम्हारी।
मैं बहरे नूरे हक़ में, ग़ोता लगा रहा हूँ॥

दोनों जहाँ को कुछ तो अलमस्त कर दिया
कुछ और भी करूंगा, मस्ती बना रहा

रोता है क्यों फलक तू, ग़म में अबस जहाँ के।
खुश हो तू देख मुझको, मैं खिलखिला रहा हूँ॥

सब मजहबों का चक्कर, चलता जो देखते
मरकज़ पे सबके बैठा, डोरी हिला रहा

गाना 'शाहन्शाह' गाना, ऐसा ही मिलके दिल से
जैसा कि हाथ मे मैं, बाजा बजा रहा हूँ।
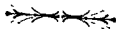
आत्मा अविनाशी है।

[लेखक—श्री भगवद्दत्त गुप्त बी० ए०]

महात्मा अफलातून के विचार।

गत बड़े दिन की छुट्टियों में काशी में थियोसोफिकल सोसाइटी का वार्षिकोत्सव हुआ था। उसमें लंका के सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित श्री जिनराजदास जी ने अपने भाषण में बतलाया था कि आत्मा के अविनाशी, अमर और नित्य होने के विषय में महात्मा अफलातून ने कुछ विशेष प्रमाण दिये हैं। यहां पर इतना परिचय दे देना भी लाभकर होगा कि महात्मा अफलातून यूनान देश में विक्रमी पूर्व छठी शताब्दी में हुए थे। ये महात्मा सुकरात के शिष्य थे और अनेकानेक विषयों पर विचारपूर्ण लेख छोड़ गये हैं। हमें विश्वास है, महात्मा अफलातून का नाम तो हमारे देश में बहुत लोगों ने सुना होगा। परन्तु इन्होंने आत्मा के अमर होने के विषय में जो प्रमाण दिये हैं वे एक विशेष प्रकार के हैं। हमारे लिये कुछ नये से हैं। इसीलिए पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। हमारे देश में इस विषय की चर्चा बहुत रहती है। इस लिए इनके समझने में कठिनाई न होगी।

अफलातून का कहना है कि जब हम बाहरी जगत का अनुभव प्रारम्भ करते हैं तो वह वर्ग, जाति या श्रेणी के विचारों में ही होता है। उदाहरण के लिए जब हम गाय को देखते हैं तो झट यह धारणा होती है कि यह गाय है अर्थात् दूध देने वाला पशु है। जब हम तोता देखते हैं तो जानते हैं कि यह उड़ने वाला जीव है, चुगनेवाला पक्षी है। जब हम मनुष्य को देखते हैं तो समझते हैं कि यह हिन्दुस्तानी है, मदरासी है, हिन्दू है, ब्राह्मण है। बस इसी प्रकार ऊपर लिखे अनेकानेक अनुभव हमारे ज्ञानक्षेत्र में प्रतिक्षण हुआ करते हैं। महात्मा अफलातून का मत है कि यही अनुभव आत्मा के अमरत्व का प्रमाण हैं। हम गाय, तोता या मनुष्य को देखकर उनको एक दम क्यों पहचान लेते हैं, क्योंकि इन श्रेणियों का ज्ञान हमारी आत्मा में पहले से भरा हुआ तैयार रहता है। जैसे जन्म के पहले से ही हम उनको जानते हैं। इस संसार में आने की क्रिया में हम उन अनुभवों को भूल से जाते हैं, हमें विस्मृति हो जाती है, पर ज्यों ही हम उन्हें फिर देखते हैं, हमें पूर्व जन्म के अनुभव फिर याद आ जाते हैं। इस लिए इनके मत के अनुसार हमें जितना ज्ञान होता है उसमें कुछ भी नया नहीं है। केवल पूर्व जन्म की स्मृति है, उसे फिर से याद करना है। और इसी लिए हमारा जन्म भी कोई नया जन्म नहीं है, वरन् हमारे अविनाशी तत्व का केवल एक अंश मात्र है। ज्ञान की धारा और आत्मा का जीवन अनन्त और अविनाशी है। जीव जन्म के पहले भी था और इसके बाद भी रहेगा। पार्थिव जन्म की अद्भुत क्रिया में हम पूर्व ज्ञान को भूल जाते हैं और इसीलिए वर्तमान संसार का पूर्व जन्म से मिलान नहीं मिला सकते। संसार में कुछ लोग कुछ विद्यायें अपेक्षाकृत शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं और कुछ लोग देर में। कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं और कुछ अपेक्षाकृत निर्बुद्धि। बुद्धिमान वे कहे जाते हैं जो पूर्वज्ञान को कम भूले हैं और निर्बुद्धि वे जो अधिक भूले हैं।

अफलातून का सृष्टिरचना विषयक मत भी इसी प्रकार के सिद्धान्त का पोषक है। उनके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पहले परमात्मा या आत्मा अनाकार रूप में था। फिर उसे संसार रचने की इच्छा हुई। हमारे वेदान्त का भी कुछ ऐसा ही मत है। ऐसी इच्छा क्यों हुई इस विषय में अफलातून और वेदान्त दोनों मौन हैं। वेदान्त में कई विकल्प हैं

मानसिक धर्म्म

[ले०—स्वामी शिवगणाचार्य जी महाराज]

मानसिक धर्म क्या है ? जैसे प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला यह स्थूल शरीर अर्थात् पंच महाभूतों की काया—त्वचा, माँस, रुधिर, अस्थि, मेद और वीर्य से बनी हुई है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर जो जीवन और गति का कारण है, कर्म-इन्द्रियों, ज्ञान-इन्द्रियों और प्रतिक्षण संकल्प-विकल्प करनेवाले मन से बना हुआ है।

इन सब शक्तियों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर, हमारे बाह्य शरीर, स्थूल शरीर के भीतर है। इसकी शक्तियाँ स्थूल शरीर से कई गुना अधिक हैं और यह केवल प्रकाश रूप है। यह बाह्य शरीर उस भीतरी शरीर का ढकन या खोल मात्र है, जिस पर भीतरी शरीर का प्रभाव बराबर पड़ता रहता है।

मानसिक धर्म की व्याख्या अलंकार में या अलंकार रूपी कथा में धार्मिक पुरुष ऐसे करते हैं कि शरीर रूपी नगर में 'मन' राजा की भाँति है, ज्ञान-इंद्रियाँ उसके अधिकारी, कर्म-इंद्रियाँ उसके सेवक, सम्पूर्ण नाड़ियाँ और पुट्ठे उसकी सेना और वीर्य उसका कोषाध्यक्ष है। वीर्य जितना अधिक होगा और नौकरों, चाकरों और सेना से ठीक ठीक काम लेकर उनको वीर्य रूपी धन से जितना प्रसन्न किया जावेगा, उतनी ही राज्य की वृद्धि होगी। यदि वीर्य थोड़ा होगा और उसके बढ़ाने का उपाय न किया जावेगा अथवा उसको अनुचित रीति पर या व्यर्थ व्यय किया जावेगा तो मन रूपी राजा का तेज घट जावेगा। नौकर निर्बल हो कर थक जावेंगे और अन्त में काम करना छोड़ देंगे और राज्य ही नष्ट हो जावेगा।

हमारे मन की शक्तियाँ अगणित हैं। इनके ठीक ठीक विकास और सदुपयोग से सारे सुख प्राप्त हो सकते हैं। परंतु अज्ञान, आलस्य और लालच आदि दोषों के कारण सम्पूर्ण शक्तियों की यथाविधि वृद्धि और विकास न होने पावे या उनसे पूरा पूरा काम न लिया जावे या अनुचित काम लिया जावे तो मन इन्द्रियों के बन्धन में फँसकर भाँति भाँति के दुखों में पड़ जाता है और इन्द्रियाँ भी शासकहीन सेना की भाँति व्याकुल और तितर-बितर रहती हैं।

अतः हमें मन को प्रत्येक दशा में एकाग्र रखना चाहिये। जैसे दिन के पीछे रात्रि और रात्रि के पीछे दिन सदैव होते रहते हैं और गरमी के बाद जाड़ा और जाड़े के बाद गर्मी का तार लगा हुआ है, इसी प्रकार सांसारिक कामों में सुख के पीछे दुख और दुःख के पीछे सुख जुड़ा हुआ है। अतएव किसी हर्ष या शोक में अधिक लिप्यमान न होकर मन को प्रत्येक दशा में सावधान व एकाग्र रखना चाहिये। न सुख के अवसर पर अत्यंत सुखी होना उचित है और न दुख के समय में बहुत ही घबरा जाना योग्य है। इन दोनों अवस्थाओं को क्षणिक समझ कर अपने कर्तव्य में सच्चे मन से लगे रहना चाहिये। दुनिया में जितने बड़े बड़े मनुष्य बड़े बड़े काम करके अपना नाम कर गये हैं, वे सब ऊपर लिखी रीति के अनुसार अपने मानव कर्तव्य को करते रहे हैं। उदाहरण के लिए महाराजा रामचन्द्रजी का संक्षेप वृत्तान्त लिखा जाता है:—

जब महाराजा रामचन्द्रजी को उनके पिता दशरथ जी ने राज्यतिलक देने का विचार किया उस समय अयोध्यावासियों और श्री रामचन्द्र जी की माताओं, कौशल्या आदि को अत्यन्त हर्ष हुआ। जैसे जैसे राज्य-तिलक का समय निकट आता जाता था, धूमधाम की सामग्री अधिक होती जाती थी। यहाँतक कि जिस दिन राज्याभिषेक होना था उसकी पहली रात्रि को रातभर नगर के कुञ्जों में भाँति भाँति के आनन्द-मङ्गल होते रहे। परन्तु महाराजा रामचन्द्र जी के चित्त में किसी

प्रकार का परिवर्तन न हुआ। वे जैसे सदैव रात्रि को सोया करते थे उसी तरह सोये और पिछले पहर उठ कर नित्य नियम करते रहे और फिर सदैव की भाँति नियत समय पर महाराजा दशरथ जी के पास गये। वहाँ जाते ही उन्हें राज्य के बदले वनवास मिला। उस समय महाराजा रामचन्द्रजी को कोई दुःख न हुआ, वरन् उन्होंने कहा कि अब वन के रमणीक स्थानों को देख कर चित्त को प्रसन्न करेंगे और एकान्तवासी त्यागी महात्माओं के दर्शन और सत्संग से लाभ उठावेंगे।

राज्य के स्थान में वनवास मिलना कुछ कम विपत्ति न थी और उस आपदा के साथ साथ पिता के मरने का कष्ट, पतिव्रता श्री सीताजी को रावण का हर ले जाना, रावण के साथ युद्ध करने में वीर शिरोमणि भाई लक्ष्मण जी का अत्यन्त घायल होना, दुख पर दुख पड़ना, ऐसी दुखदायी बातें थीं जिनके सुनने से भी जी काँप जाता है। परन्तु महाराजा रामचन्द्र जी ने सब क्लेशों को एक सच्चे धार्मिक और वीर पुरुष के समान सहन करने का जो उदाहरण हमें ॰ है, वह इतिहास में अद्वितीय है। यदि हम अपना कल्याण चाहते हैं तो इस समय ह॰ कहने की आवश्यकता नहीं कि ॰॰ ॰॰ तो भगवान् थे, हम उनका अनुकरण कैसे ॰ हैं। वरन् सच तो यह है कि भगवान् राम ने का अवतार ही इसलिए लिया था कि हम मानव चरित्रों का अनुकरण करें। संसार के ॰ बीच पूर्ण शान्त रह कर उन्होंने हमें दिखा॰ कि यदि संसार में उन्नति का कोई उपाय है त॰ यही कि हम मन को कभी दुःख, ग्लानि घृणा आदि मनोवेगों से चंचल न होने दे॰ सुख में और दुख में सदैव शान्त रहते हु॰ कर्त्तव्य का पालन करें। फिर आप देखेंगे कि कितनी दिव्य मानसिक शक्तियाँ विकसि॰ लगती हैं। आगे यह तर्क का विषय नहीं है साधना और अनुभव का क्षेत्र है। क्या आ॰ परीक्षा करके इसकी सत्यता का निर्णय करेंगे

एक पहेली

[ले०—श्री परिपूर्णानन्द वर्मा]

भगवान् की दुर्दशा

इस महायुद्ध के कारण केवल संसार के प्राणियों की ही नहीं, किन्तु भगवान् की भी बड़ी दुर्दशा हो रही है। परम पिता को अपनी कृतघ्न सन्तान के कुकृत्यों पर कितना पश्चात्ताप हो रहा होगा, इसकी कल्पना करना कठिन है। पर हम जो कुछ भी पाप कर रहे हैं, वे सब भगवान् के नाम पर—

बड़ा दिन (क्रिसमस) ईसाइयों का सबसे बड़ा पर्व होता है। इस अवसर पर जहाँ कहीं भी ईसाई होगा, अपनी परिस्थिति के अनुसार त्यौहार मनाता है। किन्तु ईसाई धर्म के इन पवित्र दिनों में यूरोप और अमेरिका के वक्षस्थल पर रणचण्डी का वैसा ही ताण्डवनृत्य होता रहा, जैसा कि बड़े दिन के पूर्व। दोनों पक्ष के सैनिक ईसाई हैं। पर किसी ने इस नर-संहार से दो-चार दिन का अवकाश लेना उचित नहीं समझा। महात्मा गान्धी ने ईसाइयों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए २३ दिसम्बर से ५ जनवरी तक सत्याग्रह स्थगित कर दिया। एक गैर-ईसाई के मन में ईसाई धर्म के प्रति जितनी श्रद्धा है, उतनी ईसाइयों में क्यों नहीं है ?

जब भौतिकता तथा संसार-प्रेम बहुत अधिक बढ़ जाता है, तो मनुष्य की दृष्टि इतनी स्थूल हो जाती है कि वह अपनी कर्तव्य-शीलता तथा धर्म को भी भौतिक तथा सांसारिक सीमा से बाहर नहीं कर सकता। सम्पत्ति, भोग, ऐश्वर्य तथा राजमद के अत्यधिक विकास के कारण इस समाज के पवित्र धर्म के अनुयायी अपने स्वार्थ और आनन्द समानता की सुन्दर भावना का बलिदान करें इसी प्रकार क्यों देते जिस प्रकार "अहिंसा" के प्रवर्तक भगवान बुद्ध के अनुयायी जापानी चीन में भयंकर रक्तपात करने में भी किसी प्रकार का अधर्म नहीं समझते।

हमारे शास्त्रों में इसलिए स्थान-स्थान पर तृष्णा को रोकने, संसार से मुँह मोड़ने और अत्यधिक भोग-विलास से सतर्क रहने की सलाह दी गयी है। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता,
तपो न तप्तः वयमेव तप्ता।
कालो न याति वयमेव याता,
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा !

और इसलिए, हमारे यहां राजनीति तथा धर्म को एक ही अधिकारी की देख-रेख में नहीं रखा गया था। ऋषि-मुनि नरेशों को सदैव उपदेश देते रहते थे, पर वे स्वयं कभी शासन के पचड़े में नहीं पड़ते थे। यूरोप का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि उसकी दुर्दशा का कारण रोम के नरेशों तथा रोमन साम्राज्य के सम्राटों का धर्म के मामले में बहुत अधिक दस्तन्दाजी करना था अथवा पोप का राजनीतिक झगड़ों में बहुत अधिक पड़ना था। फलतः धर्म एक सुविधा की वस्तु हो गयी। जिस नरेश ने जिस धार्मिक व्यवस्था से अपना जो लाभ समझा, उसका वही उपयोग किया।

"धिक् बलं क्षत्रिय बलं
ब्रह्म तेजो बलं बलम्"

ऐसे महिमामय वाक्य हमें अब बहुत कम देखने को मिलेंगे। ये वाक्य हमको चेतावनी देते हैं कि पार्थिव शक्ति का संसार में कोई भी महत्व नहीं है। अन्त में आध्यात्मिक शक्ति ही सर्व-प्रधान तथा सर्व-विजयी होती है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करते समय स्पष्ट रूप से कह दिया था कि

उनको "मोह" हो गया है। वे उसका नाम गलत काम के साथ ले रहे हैं।

जो हो, जब हर प्रकार के पाप के दौरे में चारों ओर से भगवान् की दुहाई सुनाई पड़ती है तो हमें भगवान् की इस दुर्दशा पर दया लगती है। हम यह सोचते हैं कि जब ये लोग हर तरह से भगवान् के बनाये मानव-हित के नियमों का अनादर और उल्लंघन कर रहे हैं, तो फिर भगवान् को मैदान में क्यों घसीटते हैं! तो, हमको यह उत्तर मिलता है—हमारा हृदय यह उत्तर देता है कि असल में इस बात से भगवान् के न्याय का जो डर उनके दिल में बैठा है, उसी की दुहाई दी जा रही है। उनकी अन्तरात्मा उनको फटकार रही है कि "देखो, भगवान् तुम्हारे कामों से घृणा करते हैं।" वे घबड़ा कर, अपने मन को यह समझाना चाहते हैं कि "मैं तो भगवान् का भक्त हूं, उनके आदेश का ही पालन कर रहा हूं।" मन नहीं मानता—आत्मा इस तर्क को स्वीकार नहीं करती—पर वह इतनी कलुषित हो गयी है कि कुछ उपाय भी नहीं ढूँढ़ सकती। इसलिये वह अभागा घबड़ा घबड़ा कर जोर से भगवान् का नाम ले रहा है।

भगवान् उस पर—सब पर दया करेंगे। सबको बुद्धि देंगे—विद्या देंगे—आत्म-बल देंगे—और देंगे वह प्रकाश जिसके अभाव में यह संसार नर्क बन रहा है। कब उस वास्तविक मनुष्यता का संचार होगा, कब मानव पुनः मानव होगा और कब हम अपनी दुनियाँ को वास्तविक पुण्य-भूमि बना सकेंगे, यह कोई नहीं कह सकता! किन्तु हमें प्रार्थना करने का अधिकार है और हम बड़े विनीत भाव से उस दयामय से प्रार्थना करते हैं कि "संसार का कल्याण कर!"*

---

* पर संसार का कल्याण क्या है? क्या यह समझाना ही इस पहेली को सुलझाना नहीं है? —सं०

हम-तुम

[ले०—श्री बचनेश जी]

(१)

बन हो तुम ही मन हो तुम ही,
छिपे ही रहो तो कुछ खेद नहीं।
बचनेश वियोग यह योग विशेष
संयोग सा कोई विछेद नहीं।
हमें ज्ञातव्य था वह जान चुके,
अब चाहते और लवेद नहीं।
हम दो बने हैं बन चाहने को—
हम में तुम में कुछ भेद नहीं।

(२)

हम वेद लवेद पढ़े हैं नहीं,
न पढ़ेंगे अथाह के थाहने को।
इतना बस जान पड़ा बचनेश,
यह गाँठ किये हैं निबाहने को।
तुम एक से प्यारे अनेक बने,
नित नूतन नेम उमाहने को।
हम भी बने दूसरे हैं तुमसे,
हर हालत में तुम्हें चाहने को

स्वामी राम क्या थे ?

[ले०—श्री नारायण शुक्ल बी० ए०]

भारतवर्ष स्वाधीन और पराधीन दोनों ही रहा है, परन्तु ज्ञान-विकास की किरणों ने यहाँ से प्रवाहित होकर संसार के अंधकार को सदा ही दूर किया है।

आज से ६७ वर्ष पूर्व संसार के दुखी जीवन के क्षितिज पर से एक किरण उठी और उसने फैल-कर समस्त संसार को इस प्रकार प्रकाशित कर दिया जैसे शरद ऋतु की काली रजनी में एकाएक चन्द्र भगवान् निकले हों। मेरा मतलब स्वामी राम से है। उन्होंने फिर केवल भारत का ही नहीं, संसार का, ध्यान 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की ओर आकर्षित किया और द्वेष, कलह और दुख के सागर में फंसी हुई मनुष्य-जीवनरूपी नौका को पार लगने का साफ रास्ता बता दिया।

पंचनद देश आर्यावर्त्त का एक मुख्य भाग है। यहीं से हमारे महर्षियों को वेद का ज्ञानोदय हुआ था। बड़े बड़े महात्मा, सन्यासी, धर्मवक्ता यहाँ उत्पन्न हो चुके हैं। यहीं, रावी की सुन्दर तरेटी में, हमारे स्वामी जी का जन्म एक साधारण स्थिति के ब्राह्मण परिवार में हुआ। इस परिवार का ध्येय था त्याग और धर्मनिष्ठा। धन का आकर्षण इस युग में भी उसे न सताया था।

स्वामी राम का जीवन निर्धनता के कारण विद्याध्ययन के समय में ही विपत्तियों की अग्नि में तप्त होकर खरे सोने की तरह निखर आया था।

बाल्यावस्था से ही इनको सत्संग से प्रेम था। जैसे न किसी तरह स्कूल की कक्षाएँ पास कीं। उदार भक्त मित्रों की सहायता से कालिज की पढ़ाई को भी समाप्त किया। विद्यार्थी जीवन में ही नाम हो गया। धन का अभाव तथा अन्य बाधायें इनके क़दम को पीछे न हटा सकीं। ऊँचे विचार, दया, प्रेम तथा कक्षा की पढ़ाई में प्रथम रहना ऐसे कारन ... मास्टर, सहपाठी तथा प्रोफेसर, सब ही ने ... लिया कि यह कोई दिव्य पुरुष है और कुछ ... रहेगा। एम० ए० पास करके स्वामी राम ... प्रोफेसर क्या हुये उनकी संसार के धर्मगुरु बनने-तय्यारी होने लगी।

स्वामी राम का जीवन दूसरी ओर बढ़ने लगा। वेदान्त की किरणों ने उनमें से प्रकाशित ... कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ... तर्कशास्त्र की सहायता से द्वैतमत का प्रचार करते आर्य समाज की स्थापना कर चुके थे। स्वामी राम ने वेदान्त की दृष्टि से जो सब धर्मों का प्राण है सत्य का प्रचार आवश्यक समझा। अतः उनके ... व्याकुल जनसमुदाय पपीहा को स्वाँति जल की तरह आनन्द देने वाले हुये।

स्वामी राम जोरों से अनुभव करने लगे कि संसार की आधुनिक सभ्यता के जीवन में जहाँ राष्ट्र राष्ट्र के ... एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध उठा हुआ है, वहाँ नम्र विनय, सहनशीलता, स्वार्थ-त्याग और प्रेम की ... पशुबल, क्रूरता इत्यादि अवगुणों ने लेकर मानव समाज के हृदय पर अधिकार कर लिया है। बहुत विचार कर पर उन्होंने संसार के कल्याण के लिये ज्ञान को ही परम औषधि समझा। ज्ञान प्राप्त होते ही निष्काम कर्म का आरम्भ होता है। कर्म फिर बिना फल की आशा से कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है और नती-जा यह होता है कि पाप और दुख के ढेर जो हमारे ... पर लदे हुये हैं जल कर नष्ट हो जाते हैं। अवि-द्या के नाश से लालसा-युक्त कर्म और मैं-मेरे ... विस्तार के अभाव से जन्म नहीं होने पा... जीव मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त हो जाता ...

इसलिए अपने कर्त्तव्यों को भली प्रकार पालन करते हुये सब में भगवान् देखने का अभ्यास करना होता है। भगवान् का उत्तम भक्त वही है जो सब भूतों में भगवान् को और अपने आप को देखता है और सब भूतों को और भगवान् को अपने आप में देखता है, ऐसा अनुभव करते करते मनुष्य कुछ और ही हो जाता है।

यह वह मय है जिसके पीने से और ध्यान छूट जाता है।
अपने में और दिलवर में फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है।'

ऊपर कहे हुए विचार ही अब स्वामी राम के मन में घूम रहे थे। ऐसे समय में जगत् विख्यात स्वामी विवेकानन्द भी सनातन धर्म का प्रचार करने पंजाब आये। हमारे स्वामी राम से उनकी खूब पटी।

खूब गुजरेगी गर मिल बैठेंगे दीवाने दो।

विवेकानन्द महाराज लौटे और राम उनको लाहौर स्टेशन पर पहुँचाने गये। राम ने अपनी और स्वामी विवेकानन्द को एक ही आत्मा समझ कर अपनी सोने की घड़ी उनके चोगे की जेब में डाल दी। बंगाली सन्यासी ने थोड़ी देर बाद वही घड़ी स्वामी राम की जेब में फिर धर दी, और कहा यह जेब और वह जेब एक ही है। स्वामी राम ने हँस कर कहा 'ठीक है'। यह बात प्रैक्टिकल वेदान्त का एक अच्छा उदाहरण है।

हमारे राम का मन प्रोफ़ेसरी और गार्हस्थ जीवन के बन्धन को तोड़ कर अब बड़ी उड़ान की तरफ़ बढ़ रहा था।

अल्लाह तू ही तू रहे, और तू ही तू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे॥

राम ने सन्यास ले लिया। वे दृढ़ थे, स्थिर और शान्त थे और पूर्वजों का मार्ग अनुकरण कर सत्य प्रकट करने के लिए तैयार हुए थे। घरबार के माया-मोह को छोड़ कर विश्व-प्रेम की ओर उन्होंने क़दम बढ़ाया। संसार के बच्चे उनके बच्चे हो गये और संसार के दुखिया, रोगी और पीड़ित उनके बन्धु बने।

चिर सहचरी रियाजी छोड़ी,
रम्य तटी रावी छोड़ी।
'हाय वत्स ! वृद्धा के धन !'
यह कहती महतारी छोड़ी।

कैसा समय था ! बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, माता, स्त्री, बालक, अड़ोसी-पड़ोसी, गुरु और चेले सब बिलख बिलख कर रो रहे थे, घेरे खड़े थे, छोड़ते नहीं थे। राम ने हँस कर कहा—क्या मैं अब तुम्हारा नहीं रहा, मैं तुम्हारा पहले की तरह हूँ और रहूँगा। संसार में जो मेरे नहीं थे वे भी सब अब मेरे हो गये, हम और तुम एक हैं !

स्वामी राम ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगे। ईश्वर के साक्षात्कार से उनकी आत्मा नृत्य करने लगी और वे चिल्ला उठे "My bone of bones, my blood of blood are mountains, rivers, suns and rains."

उन्होंने जान लिया कि भगवान् ही सब अशाश्वत वस्तुओं का आदि और अन्त है। वही एक था, है और रहेगा। वे अपने को सारे ब्रह्माण्ड का अखण्ड स्वामी समझने लगे। वे हिन्दुओं, मुसलमानों और अन्य धर्मावलम्बियों के ईश्वर को एक ही अनुभव करते। उनके इस विचार से समस्त साम्प्रदायिक तथा जातीय भेदों का विनाश हो गया। उन्होंने मनुष्य जाति की समता घोषित की जिससे काले-गोरे, छूत-अछूत के सब झगड़े नष्ट होने लगे। उन्होंने उपनिषदों और शंकर के मत को पुनः जोरदार आवाज से घोषित किया। 'तत्वमसि' अर्थात् तू ही ब्रह्म है, तू ब्रह्माण्ड से अभिन्न है, तू सार्वभौमिक है, यही उनकी आवाज थी।

वे सब जड़ और चेतन पदार्थों में अपने को देखने लगे, श्याम की मोहनी मूर्ति, यार का जल्वा,

अपनी ही सूरत उन्हें कोयल की कुहुक में, जलते हुये परवाने में, वसन्त के मस्त फूलों में, पतझड़ के सूखे पत्तों में, साकी की रसीली आँखों में जगह जगह दिखाई देने लगी। उनकी परिमित आत्मा पूर्ण की आत्मा में विलीन हो गई। ऐसी अवस्था में वे टेनीसन के शब्दों में गाने लगते—

The sun, the moon, the stars, the seas, the hills and plains.

Are not these, O soul, the vision of Him who reigns.

Is not the vision He, though he be not which he seems?

स्वामी राम की इस अवस्था ने संसार में एक आँधी सी उठा दी। उनमें वह ताकत पैदा हुई कि वे हर दिल को हिला दें। वे हिमालय गये और उतर आये। अमेरिका तथा संसार का भ्रमण ऐसी मस्ती से किया कि दुनियाँ काँप गई। क्राइष्ट, बुद्ध, शंकर, मीरा, सूरदास, नानक, चैतन्य, सुकरात, अरस्तू मानों संसार के सब महापुरुष इस एक पतले दुबले सन्यासी के शरीर से एक साथ बोल रहे थे—उन्होंने कबीर के शब्दों में सबको बताया—

मैं लागा उस एक से, एक भया सब माहिं।
सब मेरा मैं सबन का, तहाँ दूसरा नाहिं॥

माया के कारण आत्मा मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकती। इस माया के द्वारा अहंकार पैदा होता है जिससे आत्मा अपने सत्य रूप को भूल जाती है। ईश्वर एक है। सृष्टि में जो विभिन्नता दिखाई देती है वे उसी के बहुत से रूप हैं। उन्होंने कृष्ण के शब्दों में हाथ उठाकर कहा—

ममैवांशो जीव लोके, जीवभूतः ... परमात्मा का ही अंश आत्मा है। आत्मा के ज्ञान होने पर परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। पिंडे तथा ब्रह्माण्डे। हाँडी का एक चावल ... कुल भात पक जाने का पता लग जाता है। आत्मा कुल संसार को बाँधे हुये है। ... अल्लाह, भगवान्, देवी, देवता कुछ भी कह ... किसी नाम से पुकार सकते हो। "... बहु वदन्ति"। इसी को हमारे स्वामी ... ॐ, आनन्द आनन्द पुकारा करते थे। ... सूफियों ने प्रियतम का रूप देकर सरस ... अन्तर्गत कर दिया है—

गुम कर खुदी को तो तुझे हासिल ...
यह था स्वामी राम का उपदेश!

स्वामी रामतीर्थ आज स्थूल शरीर ... सामने नहीं हैं। परन्तु उनके दर्शन हम उनके द्वारा कर सकते हैं जो संसार में सदा गूंज... सत्य ही सदा जीवित रहता है और कभी ... होता। उनका विश्व-प्रेम हम में शक्ति उत्प... और वह समय शीघ्र आवेगा जब मनुष्य ... जान लेगा और सांसारिक बुराइयों का ... नवयुग का आरम्भ दिखाई देगा। सब लोग सत्य को पहचान कर कविवर बिस्मिल ... में स्वामी जी के उपदेशों को समझ कर यों ...

मतलब है इबादत से मुझको,
मतलब है परिस्तिश से मुझको।
जिस दर पे झुकाया सर मैंने,
काबा था वही बुतखाना था।

दुनिया! हट, दूर हो, परे हो!
जागो! उठो! स्वतंत्र हो! आज़ाद! आज़ाद!! आज़ाद!

—स्वामी

गीता-महत्व

[ले०—श्री विश्वेश्वरप्रसाद मुनव्वर, लखनवी]

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के मुखारविन्द से अमृत धारा बनकर जो उपदेश कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में प्रवाहित हुए थे उन्हीं के संग्रह का नाम गीता है, गीतायें और भी हैं। महाभारत में राम गीता के लिए महर्षि वेदव्यास ने कुछ पत्र अङ्कित किये हैं, उसी में ब्राह्मण गीता के लिए भी कुछ पृष्ठ निर्दिष्ट किये गये हैं, पर साधारणतः गीता का सम्बन्ध उसी महा ग्रन्थ से है जिसे हम सब श्रीमद् भगवद्गीता कहते हैं।

गीता का महत्व भगवान् श्रीवेदव्यास से बढ़कर और किसने वर्णन किया होगा। होने के लिये गीता पर न जाने कितने भाष्य हैं। इसके अनुवादों, इसकी व्याख्याओं की कोई गिनती नहीं, पर भगवान् वेदव्यास का यह लिखना ही सारे लेखों के लिए पर्य्याप्त है कि—

गीताध्ययन शीलस्य प्राणायाम परस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्म कृतानि च॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता॥

और जब वे कहते हैं कि—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीत
मेको देवो देवकी पुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

तो वे एक कभी न मिटने वाली और सब तर्कों से ऊपर रहने वाली सचाई पर ही प्रकाश डालते हैं।

गीता ही वह एक सद्ग्रंथ है जिससे भारत का सिर आधुनिक संसार में आज भी सबसे ऊँचा है।

भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले लेखकों और तत्व ज्ञाताओं ने अपने अपने विचारानुसार गीता पर लेख लिखे हैं। और गीता के उपदेशों को अपने प्रिय सिद्धान्तों के साँचे में ढाला है। पर मुझे उनके परस्पर मतभेदों में भी एक समानता दिखाई देती है, जो अविनाशी है। मुझे तो गीता ही में सारे संसार के कल्याण का रास्ता दिखाई देता है। यह और बात है कि हम स्वयं ही इसकी ओर चित्त न दें और इसके उपदेश-अमृत से अपनी प्यास न बुझायें।

गीता उपदेश सरल से सरलतर भी है और कठिन से कठिनतर भी है। कहने को तो मामूली बात है कि कर्म करो और उसमें अपने को भागी न बनाओ, पर व्यवहार रूप में इस उपदेश को लाना इतना कठिन है कि अर्जुन जैसा महापुरुष भी इससे चक्कर में पड़ गया और भगवान् कृष्ण भी उसकी दुर्गमता को मानने पर बाध्य हुए और उन्हें यह कहना पड़ा कि हाँ, निष्काम कर्म दुर्गम अवश्य है पर अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान् का केवल यही वचन आशापूर्ण है और इस पर भी जब पुरुषार्थ करने के बाद कोई साधन में सफल न हो तो भगवान् उसको निराश नहीं होने देते। यह वह अवस्था होती है कि कर्मयोगी कर्म से थक कर बैठने लगता है, उसको आन्तरिक वेदना होती है और इसी दशा में वह आत्म-समर्पण कर देता है। उस समय भगवान् उसका बल बन कर अपने इस वचन के अनुसार उसके उद्देशों की पूर्ति कर देते हैं—

सर्वधर्मानपरित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचिः॥

कारण कि इस महन् सरोवर से ही प्यासों की प्यास बुझती है।

बुद्धि का अनुगमन करने लगें, उतना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। इसलिए विद्वानों ने कहा है—यहाँ न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। मनुष्य स्वयं अपना शत्रु और स्वयं अपना मित्र है। बुद्धि की आज्ञा में चलते हो तो अपने मित्र और मन की आज्ञा में चलते हो, तो अपने शत्रु।

बुद्धि, परिच्छिन्न बुद्धि मनुष्य को अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचा देगी—बहुत से लोगों को यह बात किसी प्रकार ठीक नहीं जँचती। वे कहते हैं कि बुद्धि का निर्णय ठीक नहीं हो सकता। एक तो सब की बुद्धि एक सी होती नहीं। कोई संस्कृत होती है और कोई असंस्कृत। दूसरे इस व्यावहारिक जगत में ऐसा उलझाव है कि यदि हम प्रत्येक स्थल पर, प्रत्येक समस्या पर अपनी बुद्धि का सहारा लेने लगें तो एक पग भी आगे न बढ़ सकें। हमें बहुत से ऋण चुकाना है। अपने परिवार के प्रति हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं, अपनी जाति के प्रति हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं, और अपने देश के प्रति भी हमें कुछ करना होता है। कभी कभी ऐसा होता है कि इन कर्त्तव्यों में प्रकट विरोध दिखाई देता है। इस विरोध को मिटाने में हमारी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। तब हमें अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार ही काम करना पड़ता है। निस्सन्देह जगत में कभी कभी हमारे कर्त्तव्यों में द्वन्द्व सा खड़ा हो जाता है। हमें ऐसा भान होता है कि यदि हम एक कर्त्तव्य के पालन में अग्रसर होते हैं तो दूसरे कर्त्तव्य से च्युत से हुए जाते हैं। ऐसी अवस्था में हम सचमुच बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं, कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। पर यदि हम ठीक ढंग से सोचने का कष्ट करें, यदि हम निष्पक्ष होकर बुद्धि की शरण लें तो हमारी यह विकट समस्या भी धीरे-धीरे सदा के लिए हल हो सकती है। आइये, ज़रा इस विषय पर दूसरे ढङ्ग से विचार कीजिये। जब आप कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के द्वन्द्व की बात करते हैं तब आप क्या पहले ही से यह नहीं मान लेते हैं कि आपसे बाहर एक ठोस जगत अपनी असहाय अवस्था में आप से सहायता की याचना कर रहा है। क्या आप पहले ही से यह नहीं विश्वास कर लेते हैं कि आप पृथक हैं और जिनकी आप सेवा करने की इच्छा करते हैं, वे आप से पृथक हैं। आप क्या पहले ही से अपने को अल्प-शक्ति नहीं मान लेते हैं। क्या आप यह पहले ही से नहीं मान लेते हैं कि संसार का वर्तमान स्वरूप अवांछनीय है और उसमें सुधार और नवविधान लाने की परमावश्यकता है। पर सच तो कहिए, ये सारी बातें पहले ही से मान लेने का अधिकार आपको किसने दिया? यदि आप सचमुच कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करना चाहते हैं तो इस प्रकार आप को कोई बात मान कर न चलना होगा। आपको सबसे पहले यह जानना होगा कि जिसे आप 'मैं' 'मैं' कहते हैं—वह क्या है? आप पहले अपने आप को जानिये और फिर जगत को पहचानिये, तब अपने कर्त्तव्य का निर्णय कीजिये। शायद आप कहेंगे कि यही सब अव्यावहारिक बातें हैं, कर्मशून्यता की चालें हैं। नहीं, कर्मशून्यता, अकर्मण्यता सचमुच बुरी बात है। काम करना काम न करने से सदैव अच्छा है। पर अंधकार में तो काम करना और न करना बराबर है। काम कीजिये, पर उसके लिए पहले प्रकाश पैदा कीजिये। जब तक आप स्वयं अपनी छानबीन नहीं करेंगे तब तक न प्रकाश होगा और न आप काम कर सकेंगे। इसलिए प्रकाश लाना अव्यावहारिकता नहीं, वरन् सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिकता है और प्रथम कर्त्तव्य है। इसीलिए विद्वानों ने कहा है—पहले कर्त्तव्य का भूत अपने सिर से दूर कर दो और अपने आपको पहचानो। यदि तुम्हारा कोई कर्त्तव्य है तो स्वयं अपने प्रति।